विचार-दर्शन

[साहित्य के विविध युगों पर आलोचनात्मक दृष्टि]

डा० रामकुमार वर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०,
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी

प्रकाशक
साहित्य-निकुंज
१६, शिवचरन लाल रोड,
प्रयाग

प्रथम संस्करण, १९४८

मूल्य चार रुपया

मुद्रक
पं० जयराम भार्गव
युनिवर्सल प्रेस,
प्रयाग

निवेदन

यह मेरे स्फुट निबन्धों का संग्रह है। साहित्य और जीवन के विविध अंगों पर मैंने समालोचनात्मक दृष्टि डाली है। अधिकांश लेख रेडियो के लिए लिखे गए थे। अतः मुझे यह ध्यान रखना पड़ा कि एक अधिक विस्तृत परिधि के श्रोताओं और साहित्यानुरागियों के लिए यह सामग्री है। उनके लिए मुझे विचारों और तर्कों की की सरलता और भाषा की सुबोधता का आश्रय लेना पड़ा। और इस समय जब ये पुस्तक रूप से प्रकाशित हो रहे हैं तो मुझे विश्वास है कि साहित्य के साधारण विद्यार्थी और पाठक भी इन्हें आसानी से समझ सकेंगे।

कुछ लेख साहित्य और जीवन के प्रति मेरी व्यक्तिगत दृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं। इससे पाठकों को मेरी साहित्यिक कृतियों के समझने में भी सहायता मिलेगी। 'जीवन—मेरी दृष्टि में', 'कविता का जन्म', 'कवि के मुख से' कुछ इसी तरह के निबन्ध हैं। 'आलोचक के सामने' शीर्षक निबन्ध में तो आलोचक ने मेरे साहित्यगत दृष्टिकोण की 'चीर-फाड़' तक की है। कबीर के 'उलटि समाना आप में प्रगटी ज्योति अनंत' की भाँति मैंने भी अपने आप में डूब कर आत्म-विश्लेषण किया है। इससे मेरा 'साहित्यिक-स्वास्थ्य बढ़ा ही है। सम्भव है, कुछ ज्योति भी प्रकट हुई हो लेकिन वह ज्योति तो साहित्य की है।

प्रस्तुत संग्रह में मैंने अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य-परिषद् के पद से दिए गए अपने दो भाषण भी जोड़ दिए हैं। आशा है, ये भाषण पाठकों को रुचिकर होंगे। प्रिय मित्र श्री जयराम जी भार्गव, अध्यक्ष साहित्य निकुंज की सुरुचि से यह संग्रह इतने सुन्दर रूप में साहित्य-प्रेमियों के हाथों में जा रहा है, इसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

साकेत, प्रयाग
१६-१०-४७

रामकुमार वर्मा

निर्देश

कबीर का दर्शन

भारतीय साहित्य के इतिहास में कबीर के दर्शन का युगान्तरकारी महत्व है। उसने उत्तर भारत के बीच फैली हुई समाज और धर्म की घोर विषमता दूर करने में बड़ा काम किया। कबीर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विषभरी साम्प्रदायिकता को जड़ से उखाड़ने की कोशिश की और वे अपने इस प्रयत्न में बहुत कुछ सफल भी हुए। धर्म के ऊपरी ढोंग को जनता के सामने बड़ी निर्भीक वाणी में कह-कर उसके अन्धविश्वासों को दूर करना महात्मा कबीर का ही काम था। उन्होंने सच्चे धर्म की व्यवस्था दी जिससे हिन्दू और मुसलमान—दोनों जातियों ने उन्हें अपना नेता मानकर सारे भारतवर्ष में मुख्यतः पंजाब, युक्तप्रांत, मध्यप्रांत, बिहार, उड़ीसा, बंबई और गुजरात में कबीरपंथ के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

कबीर साहब के जन्म और मरण के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कबीरपंथियों ने उनका जन्म संवत् १४५६ (सन् १३९९) और मरण संवत् १५७५ (सन् १५१८) माना है। इसके अनुसार उनकी आयु ११९ वर्ष की ठहरती है। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रन्थ में कबीर साहब को रामानन्द का शिष्य कहा है। 'अगस्त संहिता' के अनुसार रामानन्द का समय सन् १३०० के लगभग माना गया है; अतः जब रामा-नन्द ९९ वर्ष के रहे होंगे तब कबीर साहब का जन्म हुआ होगा। यदि रामानन्द की भी आयु हम बहुत लम्बी मानें तब हम कबीर साहब को रामानन्द का शिष्य मान सकते हैं। कबीरपंथ के ग्रन्थों में जिनमें 'मूलपंजी' मुख्य है और जिसकी प्रतिलिपि संवत् १७६९ (सन् १७१२) में की गई थी कबीर साहब ने अपने गुरु रामानन्द का नाम लिया है। पीपाजी की 'बानी' में भी कबीर साहब का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया गया है। पीपाजी रामानन्द के शिष्यों में थे, अतः कबीर रामानन्द के समकालीन हो सकते हैं। बस्ती ज़िले के आग्नेय (पूर्व और दक्षिण के बीच) २७ मील की दूरी पर मगहर में आमी नदी के दक्षिण तट पर बिजली ख़ाँ ने कबीर साहब की समाधि सन् १४५० में बनवाई थी। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इसके अनुसार यह तो निश्चित ही है कि कबीर साहब चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए।

कबीर साहब के समय के सम्बन्ध में मैंने इसलिए प्रकाश डाला है कि उससे उनकी समकालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का परिचय मिल जावे। चौदहवीं

शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत के धार्मिक विचारों में घोर संघर्ष हो रहा था। फ़रीदुद्दीन अत्तार, अबू हामिद मुहम्मद बिन् अबू हक इब्राहीम (हिजरी ६२७, सन १२२६) ने पंजाब में जिस सूफ़ी मत का प्रचार किया था वह पंजाब और मध्य देश में कवियों की रचनाओं में प्रकट हो रहा था। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का—जाति-बन्धन शिथिल कर—जनता में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। सुदूर पूर्व में गोरखपंथियों ने हठयोग की जटिल विचार-धारा विधि-निषेध के तत्वों के साथ मिला कर प्रवाहित कर दी थी। इन्हीं के सिद्धान्तों में बौद्ध मत के कुछ सिद्धान्त भी बिखरे हुए यत्र-तत्र मिल जाते थे। उदाहरणार्थ 'शून्यवाद' का सिद्धान्त विशेष रूप से गोरखपंथियों की विचार-धारा का अंग बन रहा था। शंकर का अद्वैतवाद भी रामानन्द के सिद्धान्तों में अपना प्रवेश पा गया था। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारत के धार्मिक विचारों में एक क्रान्ति सी हो रही थी। सूफ़ीमत, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, गोरख-सिद्धान्त और बौद्ध मत की विविध सिद्धांत-शाखाएँ न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती थीं, और जब कबीर साहब ने अपने दर्शन की रूप-रेखा बनाई तो इन सिद्धान्तों का प्रभाव उन पर विशेष रूप से पड़ा। कबीर साहब ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इन सभी सिद्धान्तों से उपर्युक्त बातें नये ढंग से चुनकर अपने दर्शन में मौलिक रूप से सजाईं। उन्होंने अपने धर्म को जितना ही तर्कसम्मत बनाया उतना ही समयोचित भी। गहरी से गहरी भावना को उन्होंने इतने सरल रूप में सजाया कि साधारण जनता भी असली तत्व के निकट पहुँच गई। उन्होंने जीवन के सरल से सरल चित्रों के उदाहरण से अपने अनुभव की सजीव और स्वाभाविक बातें कहीं। अपने धर्म को कर्मकांडों और अभिचारों से स्वतंत्र कर उन्होंने इतना सरल और विश्वासमय रूप दिया कि भक्त और साधक को बिना किसी प्रयास या बन्धन के ईश्वर की पहचान प्राप्त हो सके। वे अपने समय के जितने बड़े विचारक थे, उतने ही अधिक प्रचारक भी।

कबीर का दर्शन मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग तो ईश्वर के सम्बन्ध में है, दूसरा जीवात्मा, तीसरा साधना और चौथा भाग उन्होंने ईश्वर की भावना में दो धर्मतत्वों को मिलाने में उपस्थित किया है। अद्वैतवाद और सूफ़ीमत में ईश्वर की जो भावना है वही उन्होंने अपने दर्शन में रक्खी है। उनका ईश्वर सर्वोपरि है, वह 'नासूत' होकर भी 'लाहूत' है—संसार के कणकण में वर्तमान होते हुए भी संसार से परे है। न वह हलका है, न वह भारी। न वह पास है, न दूर। न वह एक है, न दो। संसार की भाषा और भावना में कबीर का ईश्वर व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह जैसा है, वैसा है। कबीर कैसे कहें कि वह किसी विशेष प्रकार का है?

एक कहौं तो है. नहीं, दोय कहौं तौ गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥
भारी कहौं तौ बहु डरूँ, हलका कहूँ तौ भीठ।
मैं का जानूँ राम को नैना कभूँ न दीठ॥

इस तरह कबीर का ईश्वर किसी ख़ास ढंग का नहीं कहा जा सकता, इसलिए ईश्वर में कोई भेद भी नहीं किया जा सकता। ईश्वर का रूप एक ही है। चाहे उसे राम कहा जाय या रहीम, चाहे उसे कोई केशव कहे या करीम। इसी विचार से कबीर साहब हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई अन्तर नहीं मानते। वे कहते हैं :

हमारै राम रहीमा करीमा कैसो, अलह राम मति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई॥
कहै कबीरा दास फकीरा अपनी राहि चलि भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥

कबीर साहब ईश्वर की भावना अत्यन्त सूक्ष्म रूप में मानते हैं, उनका ईश्वर कण-कण में वर्तमान है, कबीर इसीलिए मूर्तिपूजा के विरुद्ध हैं। जब ईश्वर सभी जगह है तब उसे एक ही मूर्ति में किस प्रकार सीमित कर सकते हैं ? न उसका मुख है न माथा, न रूप है न कुरूप। कबीर बहुत से देवी-देवताओं के पूजने के पक्ष में भी नहीं हैं। जब कबीर का ईश्वर निर्विकार रूप से एक है, समष्टि को लेकर भी एक है, तब उसे भिन्न-भिन्न रूपों में बाँधने की आवश्यकता ही क्या है ?

ईश्वर की भावना के साथ ही साथ उन्होंने जीव की भावना भी बहुत स्पष्ट रूप में लिखी है। वे ईश्वर और जीव में भिन्नता तभी मानते हैं जब जीव माया में लिपटकर अपना वास्तविक रूप भूल जाता है। जब जीव माया से रहित हो जाता है तब उसमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जब परमात्मा घट-घट में वर्तमान है तब वह जीव में भी वर्तमान है और इस प्रकार दोनों एक ही हैं। ईश्वर का जो रूप है वही जीव का भी है। इसीलिए कबीर साहब कहते हैं :

बहुरि हम काहे कूँ आवहिंगे।
बिछुरे पंच तत की रचनां तब हम रामहिं पावहिंगे।
जैसे ज़लहि तरंग तरंगनी ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावहिंगे।

यानी जिस तरह लहर नदी का भाग होकर उसी में मिल जाती है, उसी प्रकार कबीर साहब कहते हैं कि हम भी अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला देंगे। इसी

भावना में उनका रहस्यवाद मिलता है। वे प्रेम के आधार पर अपनी आत्मा को परमात्मा के समीप तक ले जाते हैं और उससे मिलकर एकता का अनुभव करते हैं। जलालुद्दीन रूमी और शम्स तबरीज़ के बहुत से विचार कबीर साहब की कविता में आप से आप प्रवेश पा गये हैं, क्योंकि कबीर साहब के बहुत से विचार सूफ़ीमत से साम्य रखते हैं :

हम रफत रहबर शुमा मैं .ख़ुर्दा शुमा बिसियार,
हम जिमीं आसमान खालिक गुंद मुसकिल कार
हम चु बूदनि बूद ख़ालिक गरक हम तुम पेस,
कबीर पनह खुदाइ की रह दिगर दावानेस।

कबीर साहब का विचार है कि मैं पथिक हूँ, तू पथ-प्रदर्शक है। मैं ख़ुर्दा—छोटा हूँ, तू बिसियार यानी बहुत है। तू सृष्टिकर्ता होकर पहले से ही (बूद) था, मैं तेरे समक्ष या तुझमें ग़र्क यानी लीन हो गया। कबीर इस प्रकार खुदा की पनाह में हैं।

कबीर ने साधना का पथ बहुत विस्तार से लिखा है। वे रामानन्द के प्रभाव से भक्ति, सूफ़ीमत के प्रभाव से प्रेम और गोरखपंथियों के प्रभाव से योग साधने के पक्ष में हैं, अर्थात् उनका ईश्वर भक्ति, प्रेम और योग के मार्ग पर चलने से पाया जा सकता है। भक्ति के अंग में उन्होंने निश्छल और निष्काम सेवा ही मुख्य मानी है, वे परम्परागत नवधा भक्ति के विस्तार में नहीं पड़े। वे तो कहते हैं :

भक्ति निसेनी मुक्ति की संत चढ़े सब धाइ।
जिन जिन मन आलस किया जनम जनम पछिताइ॥

प्रेम की भावना अधिकतर उनके सामने सूफ़ीमत का विचार लेकर आई है जिसमें इश्क़ के विचार का प्राधान्य है, जिसमें शराब की सी मादकता है :

हरिरस पीवा जानिए जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै नाहीं तन की सार॥

साधना-पथ में उन्होंने 'शरियत' और 'मारिफ़त' पर विशेष ज़ोर दिया है। उन्होंने अपनी कविता का विशेष भाग इन्हीं साधनाओं को स्पष्ट करने में लगाया है। वे सबसे पहले मनुष्य में सद्गुणों की स्थापना और दुर्गुणों के विनाश पर ज़ोर देते हैं। साँच, सहज, साध, सारग्राही, विचार, बेसास, सबद, पारिख, बेली आदि के अंग लिखते हैं और जीवन के पवित्र आदर्श की ओर संकेत करते हैं; एवं भेष, कुसंगति, भ्रम, काल, निन्दा आदि के अंग लिखकर दुर्गुणों के विनाश की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार सब तरह से पवित्र हो जाने पर ब्रह्म आप से आप अपने हृदय में दीख

पड़ता है। उसे खोजने के लिए काशी या काबा जाने की आवश्यकता नहीं है :

पूरब दिसा हरी का बासा पछिम अलह मुकामा।
दिल ही खोजि दिनै दिन भीतरि इहां राम रहमाना ॥

और इस खोजने में प्रेम की प्रधानता है :

नैनां अंतरि आचरूं निस दिन निरषौं तोहिं।
कब हरि दरसन देहुगे सो दिन आवै मोंहि ॥

अपनी समकालीन परिस्थितियों के कारण कबीर साहब ने गोरखपंथियों के साधना-पथ पर भी ज़ोर दिया है, वह है योग। हठयोग की क्रियाओं के द्वारा आसन-प्राणायाम से शरीर की नाड़ियों और चक्रों को साधकर आत्म-विस्मृत हो समाधि प्राप्त करना और ब्रह्मानुभूति में लीन होना भी कबीर साहब ने लिखा है :

हिंडोलना तहाँ झूलैं आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि कौ विश्राम ॥
चंद सूर दोइ खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूलैं पंच पियारियाँ तहाँ झूलै जिय मोरि ॥

आदि बहुत सी बातें उन्होंने इडा, पिंगला, सुषुम्णा नाड़ियों और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र पर लिखी हैं; अन्त में उन्होंने सहस्रदल कमल में चन्द्र और अमृत का ज़िक्र करते हुए 'आकाश' और 'भँवर गुफ़ा' का संकेत किया है। मूलाधार में स्थित कुंडलिनी के जागरण और षट्चक्रों को पार करते हुए सहस्रदल कमल के स्पर्श पर भी बहुत सी बातें कही गई हैं जो गोरखनाथ के 'गोरखबोध' नामक ग्रन्थ से ली गई ज्ञात होती हैं। इन बातों के चित्रण करने में बहुत से रूपकों की भी आवश्यकता पड़ी और इन रूपकों के विचित्र बन्धन ने बहुत सी उल्टबाँसियों की रूपरेखा खींच दी है। ये उल्टबाँसियाँ बड़ी विचित्र हैं, देखने में बिलकुल असंभव मालूम पड़ती हैं, लेकिन हठयोग की क्रियाओं को ध्यान में रखने से वे स्पष्ट हो जाती हैं :

तरुवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा।

यहाँ तरुवर मनुष्य का शरीर है और इसमें बिना फूल के जो फल हैं वही षट्चक्र हैं। इसी प्रकार बहुत से रूपक कबीर साहब ने लिखे हैं जो कभी चरखे से, कभी करघे से, कभी जंगली जानवरों से, कभी बनजारे के व्यापार से और कभी जल या आकाश के प्राणियों से सम्बन्ध रखते हैं। ये सब बातें जीवन के स्वाभाविक अनुभवों से सम्बन्ध रखती हैं और इस प्रकार जनता की समझ में आसानी से आ जाती हैं। कबीर

साहब के ये रूपक जहाँ गोरखपंथियों के प्रभाव की ओर संकेत करते हैं वहाँ वे जनता के हृदय में धर्म के प्रति कौतूहलपूर्ण भावना को जगा कर पवित्र विचारों की सृष्टि भी करते हैं।

कबीर साहब ने माया को बहुत गालियाँ दी हैं। अद्वैतवाद की माया तो केवल भ्रम उत्पन्न करनेवाली है। कबीर साहब ने इस भ्रम की कल्पना के साथ ही माया को छल करनेवाली और पाप-मार्ग की ओर प्रेरित करनेवाली एक स्त्री के रूप में भी देखा है। 'कनक और कामिनी' में कबीर ने माया का चित्र खूब ही खींचा है, क्योंकि अधिकतर वे दोनों ही भक्तों को ईश्वरीय मार्ग से दूर ले जाती हैं। सूफ़ीमत में धर्म-भ्रष्ट करनेवाला शैतान है जो सीधे-सादे साधकों को साधना-पथ से दूर ले जाता है। ऐसी ही कुछ भावना कबीर की माया में है। उन्होंने उसे डाइन कहा है :

इक डाइन मेरे मन में बसे रे नित उठि मेरे जीय को डसै रे।

वे कहते हैं—

एक कनक अरु कामिनी जग में दोइ फंदा।
इन पै जौन बचावइ ताका मैं बंदा॥

वे माया की भर्त्सना करते हुए कहते हैं :

भूले भरमि कहा तुम राते क्या मदमाते माया।
राम रंगि सदा मतवाले काया होई निकाया॥
कहत कबीर सुहाग सुन्दरी हरि भज ह्वै निस्तारा।
सारा खलक खराब किया है मानस कहा बिचारा॥

इस तरह कबीर साहब ने ईश्वर, जीव, साधना और माया इन चार अंगों पर बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला है। यह तर्क इतना सरल है कि जनता के हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में कबीर साहब ने अपने सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में बाँधने का बड़ा शक्तिशाली प्रयत्न किया। आज भी बहुत से हिन्दू और मुसलमान इस समान धर्म के ईश्वर के अनुयायी हैं। संसार के हिन्दू और मुसलमानों को चाहिए कि वे कबीर साहब की कविता पढ़कर अपने आपस के सारे भेद-भावों को भूल जावें और सारी दुनिया के एक ईश्वर को मानते हुए देश और समाज को सुधार के इतिहास में अमर बना दें।

(रेडियो के सौजन्य से)

रमैनी

महात्मा कबीर ने जो 'बीजक' की सृष्टि की है उसमें रमैनी का विशिष्ट स्थान है। इनकी संख्या चौरासी है। इन रमैनियों में कबीर ने माया का निरूपण ही अनेक प्रकार से एवं भिन्न दृष्टिकोण से किया है। माया के निरूपण में जीव ही प्रधान रूप से वर्णित है, क्योंकि वही माया में रमण करता है। इस प्रकार माया में रमण करनेवाले जीव के वर्णन को ही कबीर ने रमैनी का रूप दिया है।

मध्यप्रदेशान्तर्गत रायगढ़ स्टेट में खरसिया के कबीर-मठ के एक संत का कथन है कि माया का तिरस्कार कर ईश्वर (राम) से पहिचान करने वाले पदों को कबीर ने रमैनी कहा है।[1]

रमैनी में राम को पहचानने एवं उनकी ओर आकृष्ट होने का भाव अनेक बार आया है। सारी रमैनी में राम का नाम पच्चीस बार आया है और सबमें यही भाव है :

"कबीर और जाने नहीं राम नाम की आस"

(रमैनी ३)

किन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता। रमैनी माया के अनेक अंग तथा उसके वास्तविक रूप को जानकर उससे बचने के लिए ही कही गई है। पहली रमैनी में 'अन्तर्जोति' के वर्णन करने के बाद दूसरी रमैनी में माया की उत्पत्ति कही गई है और फिर माया का ही निरूपण है। अन्तिम रमैनी में भी

"माया मोह बंधा सब कोई
अन्ते लाभ मूल गौ खोई"

---

१. राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।
आदि अंत औ युग युग, मोहि रामहि ते संग्राम ॥

साखी ७६ (बीजक)

कहहिं कबीर पुकारि के ई ले ऊ व्यौहार।
राम नाम जाने बिना भौ बूढ़ि मुवा संसार ॥

साखी १ (बीजक)

लिखने के बाद की साखी है :

आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय ।
कहहिं कबीर जो आपु न जागें निरास्ति आस्ति न होय ।।

स्वयं कबीर ने रमैनी को माया में रमण करने के अर्थ में लिखा है

कर्मं कै कै जग बौराया । सक्र भक्ति के बांधिन माया ।।
अद्‌भुत रूप जाति की बानी । उपजी प्रीति रमैनी ठानी ।।

(रमैनी ४)

अतएव रमैनी का अर्थ जीव की उस दशा का वर्णन है जिसमें वह माया के रूप से मोहित होकर तथा उसके वशीभूत होकर उसमें लीन हो जाता है; अथवा उसमें रमण करने लगता है ।

तुलसी के राम

महाकवि तुलसीदास का 'रामचरितमानस' हमारे देश की सम्पत्ति है। इस एक ग्रन्थ से भारतीय जनता को अपने धार्मिक आदर्शों के बनाने में जो सहायता मिली है, वह किसी दूसरे ग्रन्थ से नहीं। उसका कारण यह है कि तुलसीदास ने राम के जीवन को इतना लोकव्यापी और मंगलमय रूप दिया है कि उसके प्रति सभी के हृदय में आदर और प्रेम की पवित्र भावनाएँ जाग उठी हैं। समाज और परिवार की मर्यादा ठीक रखने में राम जिस तरह काम कर सके हैं, उससे वे मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में आ जाते हैं। राम हिन्दू-परिवार के अंग होते हुए भी ब्रह्म हैं और उनमें इतनी दया और करुणा है कि वे किसी भी निर्दोष प्राणी का दुःख नहीं देख सकते। वे साधुओं के परित्राण तथा दुष्टों के विनाश के लिए मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं। राम के चरित्र में इतने गुणों का एक साथ समावेश होने के कारण जनता उन्हें अपना देवता मानती है और राम का पावन चरित्र अपनी कुशल लेखनी से लिखने के कारण ही महात्मा तुलसीदास हिन्दी-साहित्य में प्रेमासक्त भक्त और प्रतिभा-संपन्न कवि हुए। वे इस देश के ही नहीं समस्त संसार के महाकवि माने गये।

संस्कृत-साहित्य में राम की पूरी कथा 'वाल्मीकि रामायण' में लिखी गई जिसकी रचना ईसा के ६०० वर्ष पूर्व मानी जाती है। इसमें सात काण्ड हैं, किन्तु पहला और सातवाँ काण्ड बाद में लिखा गया ज्ञात होता है। इसका कारण यह है कि दूसरे से छठें काण्ड तक राम का जो रूप है वह ईश्वर का न होकर एक तेजस्वी महापुरुष का है। पहले और सातवें काण्ड में राम के चरित्र में अलौकिकता का अंश अधिक हो गया है। इसीलिए ये काण्ड उस समय के लिखे हुए माने जाते हैं जब राम के रूप में इतना विकास हो गया था कि वे मनुष्यत्व के धरातल से उठकर ईश्वरत्व के धरातल पर चले गये थे, उनमें ईश्वर की सभी विभूतियाँ प्रतिष्ठित की जा चुकी थीं। वाल्मीकि रामायण के मौलिक रूप में राम एक महापुरुष हैं, न तो वे देवता हैं और न किसी देव के अवतार।

राम कब अवतार के रूप में माने गये, इस संबंध में हमें भारतीय इतिहास से सहायता मिलती है। ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व मौर्य-वंश के विनाश होने पर जब शुंग-वंश की स्थापना हुई तो राजनीति में तो परिवर्तन हुआ, किन्तु धर्म का रूप वैसा

ही बना रहा। बौद्ध धर्म इस समय बड़ी उन्नति पर था। गौतम बुद्ध इस समय भगवान् माने जा रहे थे। उनके इस 'अलौकिक रूप' ने स्पर्द्धा की दृष्टि से तत्कालीन वैदिक धर्म के विकास में प्रतिष्ठित राम को भी ईश्वर मानने में सहायता दी। एक तो राम पहले से ही महापुरुष की विभूतियों से संपन्न थे, अब राम में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा भी हुई। इसलिए राम के इन दोनों चरित्रों में संबद्धता स्थापित करने के लिए राम को अवतार के रूप में भी मान्यता मिली; अर्थात् वे ईश्वर होकर भी अवतार के रूप में मनुष्य हुए। वायु-पुराण जो ईसा के ४०० से लेकर २०० वर्ष पूर्व का ग्रन्थ माना जाता है, राम को विष्णु के अवतार-रूप में प्रस्तुत करता है। ईसा के दो सौ वर्ष बाद नारायणीय में भी विष्णु के अवतारों में राम का वर्णन है। नारायणीय के बाद संहिता में विष्णु के साथ शक्ति का संबंध होने के कारण राम के साथ सीता की शक्ति भी जोड़ी गई। राम के दैवी व्यक्तित्व की ज्योति विष्णु-पुराण में बिखरी जो ईसा के ४०० वर्ष बाद लिखा गया। इस समय उत्तर भारत में गुप्त-वंश शासन कर रहा था। गुप्त-वंश के नरेश 'परम भागवत' उपाधि से अपने नाम को अलंकृत करने में अपना गौरव समझते थे। उनसे भी विष्णु-पूजा में विशेष सहायता मिली। ईसा के ६०० वर्ष बाद 'राम पूर्व तापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तर तापनीय उपनिषद्' में राम ब्रह्म के पूर्ण अवतार माने गये। आगे चलकर 'अध्यात्म रामायण' में तो राम देवत्व के रूप से ऊँचे शिखर पर पहुँचे। उनके प्रति भक्ति की चरम अभिव्यक्ति 'भागवत-पुराण' द्वारा हुई। 'भागवत-पुराण' ने राम की भक्ति एक संगठित संप्रदाय के रूप में प्रचलित की। दक्षिण भारत में इसी समय भक्ति के विधायक अलवारों की भाव-भूमि पर श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त में राम की भक्ति का प्रचार किया। श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा के पाँचवें शिष्य रामानन्द ने उत्तरी भारत में इसी राम-नाम का प्रचार जाति-बन्धन को ढीला कर सर्वसाधारण में किया। महात्मा तुलसीदास ने इन्हीं रामानन्द के आदर्शों को ध्यान में रखते हुए राम के रूप को जन-साधारण के इतने समीप तक पहुँचा दिया कि सारी जनता 'सियाराममय' हो उठी। जनता को यह कथा समझाने के लिए तुलसी ने उसे जन-साधारण की भाषा ही में सँवारने की अभूतपूर्व क्षमता प्रदर्शित की :

भाषा-बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥

तुलसीदास ने जहाँ राम को 'विधि हरि शंभु नचावन हारे' की विशेषता से संपन्न किया वहाँ उन्होंने 'विरही इव प्रभु करत बिषादा' कहकर संसार से राम की एकरूपता प्रदर्शित की। यों तो महात्मा कबीर ने भी राम की भक्ति जनता में प्रचारित की, किन्तु

उनके राम में अवतार की कोई भावना नहीं है। उनके राम रूप और नाम से सर्वथा परे हैं। वे साकार और निराकार दोनों से ऊपर हैं। इस प्रकार कबीर के राम सिद्धान्त-वाद के प्रतीक बनकर अगोचर रहे, किन्तु तुलसी के राम, नाम, रूप और लीला के माध्यम से हमारे जीवन के आदर्श बन गये।

तुलसीदास ने अपने राम के चरित्र-निरूपण में उनके व्यक्तित्व की रेखाओं को उभारने की खूब चेष्टा की है। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त 'कवितावली' और 'गीतावली' में तुलसीदास ने राम के व्यक्तित्व को विविध दृष्टिकोण से देखकर उनके रूप, गुण और लीला की बड़ी मोहक व्यञ्जना की है। 'कवितावली' में राम के ओजस्वी और शक्तिशाली गुण विद्युत् की रेखा की भाँति हृदयाकाश में चमक जाते हैं। ग्रन्थ में उन्हीं प्रसंगों की चर्चा की गई है जिनसे राम का वीरत्व स्पष्ट होता है। 'गीतावली' में तुलसीदास ने अत्यन्त मधुर पदों में राम के कोमल और सुकुमार मनोभावों के चित्रों को काव्य की कुशल तूलिका से सँवारा है। 'विनय-पत्रिका' में राम की कोई कथा नहीं है किन्तु तुलसीदास ने राम की भक्तवत्सलता दिखलाते हुए अपनी दास्य-भक्ति से भरी हुई प्रार्थना की है जैसे केदारा की रागिनी मधुर शब्दों का परिधान लेकर छंद और पदों के तालों पर नृत्य कर रही है। 'रामचरितमानस' तो कवि का प्रमुख ग्रंथ है जिसमें राम का चरित्र विविध दिशाओं से आती हुई तरंगों में लहरा उठा है।

तुलसीदास ने बालकाण्ड में पहले तो अपने राम को उस ब्रह्म के रूप में अंकित किया है जो इच्छारहित, रूपरहित और नामरहित है, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने उस ब्रह्म में ऐसे गुण भी दिखलाये हैं जिनसे उसे भक्तों के दुःख से द्रवित होकर उनकी रक्षा के लिए संसार में आना पड़ता है। तुलसीदास लिखते हैं :

एक अनीह अरूप अनामा,
अज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्व रूप भगवाना,
तेहि धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भक्तन हित लागी,
परम कृपाल प्रनत अनुरागी।

बालकाण्ड के आरंभ में ही तुलसीदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे ऐसे राम का चरित लिखने जा रहे हैं जो भक्तों की रक्षा के लिए इस संसार में मनुष्य का रूप धारण करता है। यही कारण है कि बालकाण्ड के प्रारंभ में कवि ने रामावतार के अनेक कारण देते हुए भक्त और भगवान के पारस्परिक नैकट्य को स्पष्ट किया है।

पाठकों को यह शंका हो सकती है कि मनुष्य के रूप में कष्ट सहनेवाले राम क्या सचमुच ही ब्रह्म हैं ? यदि वे ब्रह्म हैं तो उन्हें दुःख कैसे हो सकता है ? तुलसीदास ने यह शंका अपने मन में अनुमान करते हुए प्रमुखतः भरद्वाज और याज्ञवल्क्य, पार्वती और शंकर एवं गरुड़ और कागभुशुण्डि के बीच होनेवाली जिज्ञासाओं के द्वारा स्पष्ट की है। भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य से कहा :

एक राम अवधेस कुमारा,
तिन्ह कर चरित विदित संसारा।
नारि विरह दुखु सहेउ अपारा,
भयेउ रोषु रन रावन मारा।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्वज्ञ तुम कहउ विवेक विचारि॥

और सती ने शिव से पूछा :

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥

और बाद में पार्वती ने भी राम की कथा सुनने के बहाने शिवजी से यह पूछा :

जौं नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारि विरह मत भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

शिव ने सती से कहा कि राम की परीक्षा ले लो कि वे साधारण मनुष्य हैं या ब्रह्म। सती ने सीता का रूप धारण किया और वे राम के सामने आईं जब वे सीता की खोज में जंगलों में भटक रहे थे। राम ने सती को पहचान लिया और सीता के रूप में भी उन्हें सती मानकर प्रणाम किया और

कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू,
विपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू।

इस प्रसंग को लेकर तुलसीदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य के रूप में ही जो राम हैं वे ही ब्रह्म हैं। यही कथा याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कहकर यह शंका दूर कर दी थी। इस प्रकार तुलसीदास ने ब्रह्म और अवतार में एकता दिखलाकर राम के चरित्र में एक उदात्त भावना भर दी है।

'रामचरितमानस' में राम का जन्म लिखने से पहले तुलसीदास ने सभी कारणों को लिख दिया है जिनसे ब्रह्म को अवतार लेने के लिए इस संसार में आना पड़ता है।

इस विचार को दृढ़ता प्रदान करने के लिए तुलसीदास ने राम के सगुण और निर्गुण रूप में भेद नहीं माना। वे कहते हैं:

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कुछ भेदा,
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई,
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे,
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।

जिस तरह पानी और बर्फ में कोई भेद नहीं। दोनों ही पानी हैं सिर्फ रूप का भेद है। यही बात राम के सगुण और निर्गुण रूप में है। इस अन्तर को बतलाकर तुलसीदास ने कहा है:

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

अर्थात् जिसे वेद और विद्वान् इस प्रकार (निर्गुण) बतलाते हैं और मुनि लोग जिसका ध्यान धारण करते हैं वही भगवान अपने भक्तों के लिए दशरथ के पुत्र और कोशल के स्वामी बनते हैं। इस रूप का कारण तुलसीदास ने इस प्रकार लिखा है:

जब जब होइ धरम कै हानी,
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी,
सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा,
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

तुलसीदास ने जितने उदाहरण राम-जन्म के कारण रूप से दिए हैं वे तीन विचारों के आधार पर चले हैं:

१. अत्याचारी राक्षसों को मारना तथा देवताओं की रक्षा करना। प्रतापभानु की कथा इसमें प्रमुख है। प्रतापभानु अपनी महत्त्वाकांक्षा में जो अधर्म करता है उससे उसे रावण के रूप में जन्म लेना पड़ता है और रावण के अत्याचार से दुखी होकर जब पृथ्वी और देवतागण ब्रह्म की शरण में जाते हैं तो रावण के अत्याचार का अंत करने और देवताओं और पृथ्वी का दुःख दूर करने के लिए ब्रह्म को अवतार धारण करना आवश्यक हो जाता है।

२. वेद और धर्म की मर्यादा सुरक्षित रखना।

इसमें नारद के अभिमान को तोड़कर तथा स्वयं नारद का शाप अंगीकार कर कष्ट सहन करने के लिए भगवान् को अवतार लेना पड़ा है।

३. संसार में सुन्दर सुयश फैलाना और महिमा चलाना।

इसमें कश्यप और अदिति की भक्ति का प्रताप दिखलाकर संसार में भक्तों का यश फैलाना दिखलाया गया है।

'संभवामि युगे युगे' को सुन्दर रूप से चरितार्थ करने के लिए तुलसीदास ने कथाओं की शृंखला बड़े मनोहारी रूप से सुसज्जित की है। अब ब्रह्म और अवतार का पारस्परिक सम्बन्ध भी देख लीजिए।

अवतार में जहाँ ब्रह्म मनुष्य की भाँति आचरण करता है, वहाँ वह अपने ब्रह्म-रूप का परिचय भी देता चलता है। समस्त राम-कथा में तुलसीदास ने यह संकेत किया है कि यही राम ब्रह्म हैं। राम के जन्म लेने के समय कौशल्या ने कहा है कि

करुना सुख-सागर सब गुन आगर,
जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी,
भयेउ प्रगट श्रीकंता।

इसी प्रकार जब एक बार कौशल्या ने राम को पालने में सुलाकर पूजा के लिए पकवान बनाया और वे पूजा करके चौके में गईं तो देखा—रामचन्द्र भोजन कर रहे हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि अभी तो मैं राम को पालने में सुलाकर आई हूँ। वे लौट-कर कमरे में आईं तो देखा राम सो रहे हैं। दोनों जगह एक साथ राम को देखकर कौशल्या जब आश्चर्य से चकित रह गईं तो राम मुस्कुरा दिये। उन्होंने कौशल्या को अपना ऐसा रूप दिखलाया जिसके रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए थे। इस प्रकार उन्हें बालक राम में ही ब्रह्म राम के दर्शन हुए। जब राम पढ़ने के लिए गुरु के घर गये तब कवि ने राम के ब्रह्म रूप की ओर संकेत करते हुए कहा है :

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी,
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।

राम का ब्रह्मत्व इस बात में भी है कि उन्होंने श्रीकृष्ण की भाँति बालक होकर भी सुबाहु और ताड़का का वध किया और मारीच को बिना फर का बाण मार-कर सागर के उस पार फेंक दिया। अहल्या को पत्थर से मानवी बनाने में भी राम का ब्रह्मत्व है। मारीच को माया-मृग के रूप में देखकर जब सीता के मन में उसके

स्वर्ण-चर्म की इच्छा हुई तब राम ने अपने हृदय में विचार कर लिया कि जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें बनवास दिया गया है, उसका प्रारंभ हो गया। तुलसीदास ने लिखा है :

तब रघुपति जाना सब कारन,
उठे हरषि सुरकाज सँवारन।

इस प्रकार तुलसीदास ने जहाँ राम के जीवन का पूरा चित्र खींचा है वहाँ उन्होंने उस जीवन के भीतर सर्वोपरि ब्रह्म का रूप भी देखा है। यह सब इसलिए है कि मनुष्य यह जान ले कि संसार की मर्यादा कभी नष्ट नहीं हो सकती। जब कभी अन्याय सीमा से अधिक होगा, तभी ब्रह्म अवतार लेकर संसार की मर्यादा पुनः स्थापित करेगा जिनसे साधुओं का रक्षण और पापियों का विनाश होगा। ब्रह्म की इसी कृपा के कारण भारतीय जनता का विश्वास राम के ऊपर इतना अधिक हो गया है। जनता अपने प्रत्येक शुभ-कार्य में राम की शक्ति का आश्रय लेती है। राम की यह विशेषता है कि वे संसार से परे रहकर भी संसार में परिव्याप्त हैं और मनुष्यों के सुख-दुःख में भाग लेते हैं।

यही तुलसीदास के राम हैं जो हिन्दू-समाज के घर-घर में पूजे जा रहे हैं।

(रेडियो के सौजन्य से)

तुलसीदास की कविता

तुलसीदास हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। राम का चरित्र लिखते हुए उन्होंने जीवन की इतनी गहरी बातें कह दी हैं कि आज उनकी गिनती संसार के बड़े कवियों में है। बड़े कवियों की पहचान इसी बात से हो जाती है कि वे बदलते हुए युग और समाज के साथ नहीं बदलते। उनकी कही हुई बातें आज भी उतनी ही सच हैं जितनी तीन सौ साल पहले जब उन्होंने अपने हाथों में लेखनी ली थी। मनुष्य के भीतर प्रेम, घृणा, सुख और दुःख की जो भावनाएँ हैं वे तो मनुष्य के साथ ही रहेंगी, चाहे मनुष्य का समाज बदल जाय। तुलसीदास ने मनुष्य के इसी भाव-संसार को इतनी सुन्दरता के साथ जगाया है कि वह चिरकाल तक जागता रहेगा और उससे सत्य सौ-सौ रूप लेकर अपना परिचय देता रहेगा। यही बात शेक्सपीयर, दाँते, कबीर या रूमी ने की है जिससे वे अमर कवि माने गये हैं।

तुलसीदास ने अपनी कविता बड़ी सरल भाषा में लिखी है। वे स्वयं अपने ग्रन्थ 'रामचरितमानस' में कहते हैं :

सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

अर्थात् कविता तो ऐसी होनी चाहिए जो अपने रूप में सरल हो; किन्तु उस सरलता में भी ऐसी बात हो कि दूर-दूर तक समझी जाकर वह प्रशंसा प्राप्त करे। ऐसी ही कविता का आदर समझनेवाले विद्वान कर सकते हैं। सबसे बड़ी तारीफ़ तो इस बात में है कि शत्रु भी अपनी शत्रुता छोड़कर ऐसी कविता की सराहना करे।

तुलसीदास ने इसी विचार से साधारण जनता की भाषा में कविता लिखी। उनका ग्रन्थ 'रामचरितमानस' अवधी भाषा में लिखा गया है। यों तो उन्होंने ब्रज-भाषा में 'कवितावली', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं जो विचारों की गहराई के कारण कहीं-कहीं कठिन भी हो गये हैं, किन्तु 'रामचरितमानस' जिस पर कवि को अमर जीवन मिला है, सरल अवधी में लिखा गया है। सरल होते हुए भी भाषा में कहीं विरूपता नहीं आने पाई। कहीं-कहीं तो भाषा के इतने अच्छे साहित्यिक रूप मिलते हैं कि कवि की प्रतिभा देखकर आश्चर्य होता है। चित्रकूट में कोल और किरात राम-चन्द्रजी के आने पर उनसे कहते हैं :

तुलसीदास की कविता

अब हम नाथ सनाथ सब, भये देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमनु, राउर कोसलराय ।।

भावों की स्वाभाविकता भाषा के बहुत सुन्दर रूप में प्रकट हुई है। नाथ और सनाथ में जितनी मनोवैज्ञानिक व्यंजना है उतनी ही साहित्यिक सरलता भी है। हे नाथ, हे प्रभु, आपके चरणों को देखकर हम सब सनाथ हुए। हमारे ही भाग्य से ऐ कोशलराय, आपका यहाँ आना हुआ है।

तुलसीदास की कविता आज भारतवर्ष के कोने-कोने तक फैली हुई है। पश्चिम में भी उसका विशेष आदर है। उसमें धर्म की मर्यादा के साथ-साथ समाज की व्यवस्था है, लोक-शिक्षा का आदर्श है। न जाने कितने दुखी हृदयों को इस एक कवि ने सहारा देकर जीवन की लम्बी यात्रा में चलने का उपदेश दिया है और फिर धर्म, दर्शन और समाज की ये सब ऊँची शिक्षाएँ साहित्य की बड़ी सुन्दर भाव-लड़ियों से सजाई गई हैं। हृदय की एक-एक बात बड़ी सरलता और चतुराई से निकालकर कवि ने रत्न की भाँति जड़ दी है जिसकी चमक कभी पुरानी नहीं हो सकती। काव्य के दृष्टिकोण से तुलसीदास की कविता रस, अलंकार और गुण से सजी हुई है; फिर भी उसमें कोई बनावट नहीं, कोई अस्वाभाविकता नहीं। कवि की कविता के साथ अलंकार उसी प्रकार चले आते हैं जैसे बसन्त के आने पर फूल खिलते चले जाते हैं; लेकिन तुलसीदास की कविता के ये फूल कभी मुरझाते नहीं। कभी पुराने नहीं होते। वे अपनी सुगंधि से सभी के मन को हरा रखते हैं। तुलसीदास की कविता की कुछ बानगी देखिए—

मंथरा कैकेयी की दासी है और वह कैकेयी और उसके पुत्र भरत का भला चाहनेवाली है। कैकेयी राजा दशरथ की सबसे प्यारी रानी है। मंथरा ने कैकेयी को उकसाया कि वह अपने पुत्र भरत के लिए राज्य प्राप्त करे, लेकिन मुसीबत तो यह है कि कैकेयी बड़ी रानी कौशल्या के पुत्र राम को जिन्हें राजतिलक होनेवाला है, अधिक प्यार करती है। राम के राजतिलक के अवसर पर मंथरा के विरोध की एक बात ही सुनकर कैकेयी डाँट देती है कि ऐ घर फोड़नेवाली, अगर तूने फिर कभी ऐसी बात कही तो तेरी जीभ निकलवा लूँगी। अब मंथरा के सामने बड़ी भारी कठिनाई यह है कि वह कैकेयी के ऐसे कठिन निश्चय को कैसे बदले? तुलसीदास ने ऐसे अवसर पर इतनी चतुराई से मनोविज्ञान के अनुसार बातें कहलाई हैं कि मालूम होता है कि तुलसीदास को जीवन के एक-एक पहलू का ज्ञान था। आप मंथरा की उन बातों को सुनिए जिनसे वह कैकेयी के मन को बदलना चाहती है:

एकहिं बार आस सब पूजी । अब कछु कहब जीभ कर दूजी ।।
फोरै जोग कपार अभागा । भलेउ कहत दुख रौरेहु लागा ।।
कहहिं झूठ फुर बात बनाई । ते प्रिय तुम्हहिं करुई मैं माई ।।
हमहुं कहब अब ठकुरसुहाती । नाहित मौन रहब दिनराती ।।
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा । बवासोलुनिय लहिय जो दीन्हा ।।
कोउ नृप होइ हमहिं का हानी । चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ।।
जारै जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाय तुम्हारा ।।
तातै कछु क बात अनुसारी । छमिय देवि बड़ि चूक हमारी ।।

अर्थात् एक बार आपसे बात करने पर ही मेरी सब आशाएँ पूरी हो गईं । अब और क्या कहूँगी और कहने के लिए दूसरी जीभ कहाँ से लाऊँगी । मेरा यह कम्बख्त सिर ही फोड़ने लायक है कि भला कहते हुए आपको बुरा लगा । जो लोग झूठी-सच्ची बातें बनाकर आपसे कहते हैं वे तो आपको बहुत अच्छे लगते हैं और मैं लगती हूँ कड़वी । ठीक है, अब मैं भी ठकुरसुहाती बातें कहा करूँगी और अगर न कर सकूँगी तो अपने चुप ही रहूँगी । मैं बदकिस्मती से बदसूरत हूँ और फिर ईश्वर ने मुझे दासी बनाकर परवश कर दिया । ठीक है, जो मैंने बोया है वही तो काटूँगी, जो मैंने दिया है, वही तो पाऊँगी । कोई राजा हो, चाहे राम हो या भरत । मेरा क्या बनता-बिगड़ता है । अरे, दासी छोड़ के अब और मैं क्या होऊँगी । और बदतर होने से तो रही ! मेरा तो स्वभाव ही जला देने लायक है कि मैं आपका बुरा नहीं देख सकती । इसीलिए मैंने एकाध बात चलाई थी । सो मेरा कुसूर हुआ । मुझे मेहरबानी करके माफ करें ।

इन बातों का जो असर होना चाहिए, वही हुआ । कैकेयी के मन में विश्वास हो गया कि सचमुच यह दासी मेरा भला चाहनेवाली है । इससे बढ़कर मेरा कोई दूसरा नहीं और वह बड़े आदर के साथ फिर-फिर उससे बातें पूछने लगी । मंथरा की ये गूढ़ और कपट से भरी हुई बातें कवि ने जितने अच्छे ढंग से कह दी हैं, वैसी किसी दूसरे कवि से नहीं कही जा सकीं । यही तो महाकवि की विशेषता है । दूसरा उदाहरण लीजिए ।

श्री रामचन्द्र अपने पिता के वचनों की मर्यादा रखने के लिए लक्ष्मण और सीता के साथ वनों में घूम रहे हैं । रास्ते में जो गाँव पड़ते हैं उनमें रहनेवाले स्त्री-पुरुष इन सुन्दर राजकुमारों को देखकर बड़े अचरज में पड़ जाते हैं । तुलसीदास ने कितनी सरलता से यह बात कहलाई है—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ।।
राम लषन सिय रूप निहारी । होंहिं सनेह बिकल नर नारी ।।

तुलसीदास की कविता

स्त्रियाँ कहती हैं कि कहो सखी, वे माता-पिता कैसे होंगे जिन्होंने ऐसे सुकुमार बालकों को जंगल में भेज दिया है। राम, लक्ष्मण और सीता के रूप को देखकर ग्राम के स्त्री-पुरुष स्नेह से विकल हो जाते हैं। प्रेम के कारण चाहते हैं कि ये बेचारे सुकुमार बालक इस तरह जंगल में न भटकें; किंतु रोक भी नहीं सकते; क्योंकि उनका अधिकार ही क्या है, इसी विचार को तुलसीदास ने अपनी कवितावली में और अच्छे ढंग से लिखा है—

ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आंखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनवास दियो है॥

ये तो आँखों में रखने लायक हैं, इन्हें बनवास कैसे दे दिया गया? आँखों में रखने का मुहाविरा कवि ने कितनी अच्छी जगह पर कितने अच्छे ढंग से लिखा है। ऐसे बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। हमारे कवि उपमा देने में बड़ी बारीकी से काम लेते हैं। वह उपमा भी हमारे जीवन के बहुत निकट होती है। जिस समय महाराज दशरथ ने श्री रामचंद्र के तिलक की बात महारानी कैकेयी को सुनाई, उस समय कैकेयी का हृदय इस प्रकार कसक उठा जैसे पका हुआ बालतोड़ छू जाय। यदि आपके कभी पका हुआ बालतोड़ हुआ हो, ईश्वर न करे कभी हो तो उसके छू जाने पर कैसा कष्ट होता है, उसकी कल्पना कर आप कैकेयी के हृदय की दशा जान सकते हैं।

इस थोड़े से समय में मैं आपको इस महाकवि की कविता का पूरा परिचय देने में असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि महाकवि तुलसीदास ने अपनी कविता से जीवन के उन तारों को छू दिया है जो अनंत काल तक मनुष्यत्व के कानों में गूँजते रहेंगे और देश और समाज की बदलती हुई अवस्थाओं में भी शांति और सुख को कम न होने देंगे।

(रेडियो के सौजन्य से)

सूफ़ियों का साधना-मार्ग

वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुरूप सूफ़ीमत के सिद्धान्तों में भी ब्रह्म की अनुभूति साधकों के हृदय में अन्तःपक्ष से मानी गई है। कर्मकाण्ड और आचार की विशिष्टता का उतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना हृदय की अनुभूति से आत्मसमर्पण का है। किन्तु यह कहना कि सूफ़ीमत में साधना-पक्ष का अभाव है, सत्य से दूर होगा। वह साधना-पक्ष क्या है? ब्रह्म की अनुभूति के लिए किन अवस्थाओं में होकर जाना पड़ता है, इस पर हम प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। पहले हम सूफ़ीमत के अनुसार ब्रह्म (ज़ाते वहत) की भावना पर विचार करते हैं।

सूफ़ीमत का ब्रह्म वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है (एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति), उसी प्रकार सूफ़ीमत में भी ब्रह्म एक है—वह 'हस्तिए मुतलक़' है। वह किसी भी रूप या आकार से रहित है। वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तुविशेष में केन्द्रीभूत नहीं है। वह अगोचर और अज्ञेय है, वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अतः वह एकान्त रूप से एक ही है, और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्म का जो ज्ञान होता है, वह किसी भौतिक साधन से न होकर आत्मानुभूति से ही होता है। हम ब्रह्म के अनन्त गुणों को जानकर ही उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना कर सकते हैं। उसके विभव में ही हम उसके लोकोत्तर रूप का अनुमान कर सकते हैं। इस रूप की भावना, जो केवल 'एक' के रूप में समझी गई है, सूफ़ीमत में 'ज़ात' संज्ञा से अभिहित है। इस ज़ात का परिचय उसकी 'सिफ़त' में है। यह 'सिफ़त' ज़ात की वह शक्ति है, जिससे वह सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि की अनन्त रूपवाली समस्त सामग्री है 'सिफ़त', जिसके द्वारा हम 'ज़ात' की शक्तिमत्ता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम वेदान्त में 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपात्' के रूप में मान सकते हैं। तुलसी के शब्दों में 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलम्' की भावना भी यही है। इतना होते हुए भी सिफ़त ज़ात से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफ़त' ही 'ज़ात' नहीं है। सिफ़त के अनेक रूप भिन्न होते हुए भी एक हैं। हम 'सिफ़त' को ज़ात से उद्भूत गुण मान सकते हैं। जिस प्रकार किसी सुगन्धित पुष्प की सुगन्धि पुष्प से उद्भूत होते हुए भी

पुष्प नहीं है, यद्यपि हम सुगन्धि और पुष्प को किसी प्रकार विभाजित नहीं कर सकते—फूल की भावना ही में सुगन्धि है और सुगन्धि की भावना में ही पुष्प का परिचय है; तथापि यह सब विज्ञान किसी प्रकार भी ज़ात को सीमाबद्ध नहीं कर सकता। कबीर ने इसी भावना में सगुणवाद का विरोध करते हुए लिखा था—

जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म या ज़ात का अस्तित्व हमें केवल उसकी सिफ़त या सृष्टि करनेवाली शक्ति से ही ज्ञात होता है। यदि उसकी 'सिफ़त' हमारे समक्ष न हो तो हम उसकी वास्तविक अनुभूति से वञ्चित रहेंगे। हम सिफ़त को ज़ात का एक 'प्रकट रूप' या 'अभिव्यक्ति' मानते हैं।

.क़ुरानशरीफ़ के शब्दों में आत्मा या 'रूह' 'अमरे रब' या ब्रह्म की अनुज्ञा है। हदीस में लिखा हुआ है कि ज़ाते बहतने (अथवा निर्गुण ब्रह्म ने) आत्मा को अपने रूप के अनुसार ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसलिए कि ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, आत्मा का भी रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम ब्रह्म की सत्यता का परिचय परोक्ष रूप में ही प्राप्त कर सकते हैं, उसके किसी विशिष्ट आकार से परिचित नहीं हो सकते, उसी प्रकार हम आत्मा के भी किसी रूप को नहीं जान सकते, क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं है। यह आत्मा एक है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न जीवात्माओं में भी किसी प्रकार की भिन्नता नहीं हो सकती। प्रत्येक किरण में जिस प्रकार सूर्य दिखलाई दे सकता है (यद्यपि सम्पूर्ण सूर्य वहाँ नहीं है), उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में ब्रह्म का रूप प्रतिबिम्बित होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आत्मा वह दर्पण है, जिसमें ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है।

हमारे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि इस सृष्टि का रहस्य क्या है? .क़ुरानशरीफ़ के अनुसार 'मा ख़लक़तल् इन्स व जिन्न इल्लाले आबदून' (मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओं को—सिवा इबादत के लिए) में ही सृष्टिनिर्माण का रहस्य है। अर्थात् .ख़ुदा ने अपनी शक्ति से जिस सृष्टि का विधान किया है, उसके लिए स्वानुभूति के अतिरिक्त और कौन मार्ग हो सकता है? जो सृष्टि ब्रह्ममय है, उसका स्वधर्म ही ब्रह्म की उपासना होना चाहिए। यही सिद्धान्त .क़ुरानशरीफ़ का है। यदि ध्यान से देखा जाय तो सृष्टि-निर्माण के इस रहस्य में ही उपासनामार्ग छिपा हुआ है। .ख़ुदा या ब्रह्म की इबादत का तात्पर्य ही एक निश्चित साधना में है। अतः सूफ़ीमत में

सिद्धि के अन्तर्गत ही साधना का मार्ग व्यञ्जित है। यह साधना दो रूप ग्रहण करती है—एक तो साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण मार्ग में तो कुछ ही सिद्धान्त हैं, जो विधि और निषेध के अन्तर्गत हैं। करणीय और अकरणीय की आज्ञाओं में ही इस मार्ग की रूप-रेखा है। अवामिर (विधि) और नवाही (निषेध) का ही विधान इस साधारण साधनापक्ष में है। यह मनुष्यमात्र के साधारण धार्मिक जीवन के लिए आवश्यक है। कोई भी मनुष्य अपने अस्तित्व को तभी सफल मान सकता है, जब वह इन विधि और निषेधमय आदेशों के अनुसार अपने जीवन को सुचारु रूप से सञ्चालित कर सके। इस प्रकार के जीवन में संयम (रियाज़त) की बड़ी आवश्यकता मानी गई है। साथ ही आध्यात्मिकता के लिए जीवन को अधिक से अधिक अलौकिक सत्ता के समीप लाने की आवश्यकता है। इसके लिए ही 'नमाज़' की आयोजना है। दिन के पाँच भागों में अपने को ईश्वर के सम्पर्क में लाने के लिए 'नमाज़' का विधान रक्खा गया है। यह आचरण उन लोगों के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो संसार में जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय सत्ता की ओर आकर्षित हैं। अर्थात् इस प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के पक्ष हैं; किन्तु मनुष्यों में एक वर्ग ऐसा भी है जो केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही सन्तोष मानता है। उसके लिए लौकिक पक्ष का कोई मूल्य नहीं है। उसे संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दीख पड़ती, जो उसे स्थायी सुख और शान्ति दे सके। इस वर्ग के लोग संसार को क्षणभंगुर मानते हैं, इसके सुखों को मृगतृष्णा और इसकी आशाओं को इन्द्रधनुष की भाँति आधारहीन समझते हैं। उनके लिए संसार का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। अतः लौकिक पक्ष उनके सामने कोई महत्व नहीं रखता। वे एकमात्र अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष की सार्थकता ही मानते हैं और इसी में उन्हें परम सुख और आनन्द की चरम प्राप्ति होती है। यह अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष ईश्वर के जप (ज़िक्र) या स्मरण में ही माना जाता है। यह स्मरण दो प्रकार से मान्य है—

१. ईश्वर के नाम और उसके गुणों का जाप इस प्रकार हो कि उससे समस्त जीवन ओतप्रोत हो जाय। शरीर के प्रत्येक भाग में उसी अलौकिक सत्य का सञ्चार हो।[१]

२. साधक ईश्वरीय तत्व का चिन्तन दार्शनिक रूप से करे। वह आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करे और दोनों के स्वरूप-निर्धारण में लीन हो।

---

१. हठयोग में इसी स्थिति को 'अजपा जाप' कहते हैं।

इन दो विभागों पर हम विस्तार से विचार करेंगे। इनके अन्तर्गत जप के अनेक रूप हैं। मनुष्य की जितनी साँसें हैं, उतने ही अधिक साधना के मार्ग हैं; किन्तु हम संक्षेप में कुछ ही मार्गों का निर्देश करेंगे।

तवज्जह (ध्यान)—इस साधना में (मुर्शिद) गुरु शिष्य (मुरीद) को अपने सामने घुटने मोड़कर बैठावे और स्वयं भी उसके सामने इस प्रकार बैठे। फिर हृदय को समस्त भावनाओं से रहित एवं एकाग्र करके अल्लाह का नाम १०१ साँस में अनुमान से शिष्य के हृदय पर अनुलेखित करे और यह विचार करे कि अल्लाह के नाम का प्रभाव मेरी ओर से शिष्य के हृदय की ओर प्रेरित हो रहा है। इस प्रकार एक या अनेक प्रयोगों में शिष्य के हृदय में आलोक छा जायगा और उसके हृदय में जागृति इस प्रकार हो जायगी कि वह उपासना का पूर्ण अधिकारी बन सकेगा।

ज़िक्र जेहर—इस साधना का सम्बन्ध 'चिश्तिया वंश' से है[1] और यह साधना अधिकतर गोपनीय रक्खी जाती है। इसे तहज्जुद[2] के बाद ही व्यक्त कर सकते हैं। उसकी प्रार्थना यह है—'या अल्लाह, पाक कर मेरे दिल को अपने ग़ैर से और रोशन कर मेरे दिल को अपने पहचान के नूर से हमेशा या अल्लाह, या अल्लाह, या अल्लाह।' इस साधना का यह ढंग है—साधक आलती-पालथी मारकर बैठे और दाहिने तथा बायें पैर के अँगूठे और उसके बराबरवाली अँगुली से पाँव के घुटने की जड़ में नीचे की तरफ़ 'रगे कीमास' को पकड़े (रगे कीमास का सम्बन्ध हृदय से है, उसे दबाने से हृदय में उष्णता उत्पन्न होती है)। बैठने में कमर को सीधा रखना चाहिए और मुख पश्चिम की ओर हो। दोनों हाथ जानुओं पर रक्खे और 'बिसमिल्ला' कहकर तीन बार कलमा 'ला इलाह इल्लिल्लाह' पढ़े, इसके बाद जानुओं की ओर इतना सिर झुकाये कि माथा घुटने के पास पहुँच जावे और वहाँ से मधुर स्वर से 'ला इलाह' का आरम्भ करके सिर को दाहिने घुटने के ऊपर से लाते हुए दायें कंधे तक फिराता हुआ लाये और साँस को इतना रोके कि जितनी देर में तीन ज़रबें (अल्लाह के नाम का उच्चारण) लग सकती हैं। इसके बाद सिर को पीठ की ओर टेढ़ा करके ध्यान करे कि ईश्वर के अतिरिक्त जितने संकल्प-विकल्प हैं, वे सब मैंने पीठ के पीछे डाल दिये। इसके बाद सिर को बाईं तरफ़ की छाती की ओर झुकाकर, जहाँ हृदय का स्थान है, 'इल्लिल्लाह'

---

१. सूफ़ीमत के सिद्धान्त चार वर्ग (स्कूल) के हैं—चिश्तिया, क़ादरिया, सुहरावर्दिया और नक़्शबंदिया।

२. एक प्रकार की नमाज़, जो रात के बारह बजे के बाद पढ़ी जाती है।

कहे और यह विचार करे कि मैंने ईश्वरीय प्रेम को हृदय में भर लिया। ला इलाह को 'ज़िक्रे नफ़ी' और इल्लिल्लाह को 'ज़िक्रे इसब़ात' कहते हैं। 'नफ़ी' के वक्त आँखें खुली रहनी चाहिए और 'इसबात' के समय बंद।

ज़िक्रे पासे अनफ़ास—इस साधना के अनेक रूप हैं, जिनमें केवल दो द्रष्टव्य हैं। पहला नफ़ी या इसबात का पासे अनफ़ास अर्थात् जब भीतर को साँस जाय तो ला इलाह कहे और जब बाहर का साँस आये तो इल्लिल्लाह कहे। सिर्फ़ साँस से यह उच्चारण हो, यहाँ तक कि समीप बैठे हुए व्यक्ति को भी यह ज्ञात न हो सके। (यह समस्त साधना करते समय प्रत्येक साँस में दृष्टि नाभि पर रहे और मुख बंद रहे)।

हब्जे दम—यह साधना समानरूप से सभी सूफ़ियों में मान्य है, विशेषकर चिश्ती और क़ादरी इस साधन के विशेष पक्ष में हैं। नक़्शबंदी इसे परमावश्यक तो नहीं मानते, तथापि वे इसकी उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। यह साँस का अभ्यास है (हठयोग के प्राणायाम का रूप भी इसी प्रकार है)। मानसिक उन्नति के साथ यह शारीरिक उन्नति का भी मूल-मन्त्र है। इसके अभ्यास का ढंग यह है कि नाक और मुँह बंद करके साँस के रोकने की शक्ति बढ़ाई जावे।

शग़ले नसीर—यह ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का विशेष साधन है। इससे मानसिक व्याधियाँ दूर होती हैं। इसका प्रकार यह है कि सायं-प्रातः अपने जानुओं पर बैठकर मन को एकाग्र कर दोनों आँखों की दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमावे और निर्निमेष होकर देखे। इस दृष्टि में अपरिमित ज्योति का अनुमान करे। प्रारम्भ में नेत्र में पीड़ा हो सकती है, किन्तु अन्त में अभ्यास से साधना सरल हो जायगी।

शग़ले महमूदा—इस साधना में दृष्टि को भौंहों के बीच में जमाना चाहिए। यद्यपि यह साधना पहले कठिन जान पड़ती है, किन्तु इससे हृदय चैतन्य हो जाता है। पतञ्जलि के योगसूत्र में त्रिकुटी का विधान इसी प्रकार का है।

सुलतानुल अज़कार—इसके अनेक रूप हैं, किन्तु सबसे सरल रूप यह है कि आँख, नाक, कान, मुख को हाथ की उँगलियों से बंद करके साँस को नाभि से खींचे और मस्तक तक ले जावे। वहाँ उसे रोककर शक्ति के अनुसार कुम्भक करे। जब साँस को नाभि के नीचे से ऊपर ले जाने लगे तो वह 'अल्लाह' का उच्चारण करे और जब साँस को मस्तिष्क में स्थापित करे तो 'हू' कहे। 'हू' कहते समय आँख को हृदय की ओर स्थिर करे। जब कुम्भक में साँस की शक्ति घटने लगे तो उसे नाक के मार्ग से निकाल दे और इसी का पुनः अभ्यास करे। यह पहले एक या दो बार से प्रारम्भ कर अन्त में बहुत देर तक बढ़ाई जा सकती है।

शग़ले सौते सरमदी—इस साधना में आँख, नाक, कान और मुख को बंद-कर ऊँचे स्थान से नीचे स्थान को गिरनेवाली जलधारा के शब्द का अनुमान करे। इस अनुमान के साथ 'इस्मे ज़ात' (ईश्वर के नाम) पर ध्यान रक्खे। क्रमशः यह अनुमान सत्य में परिणत हो जायगा और वह आध्यात्मिक नाद सुन पड़ेगा, जो प्रत्येक साधक का आदर्श है। (योगशास्त्र में इसके समान ही 'अनहद नाद' की व्यवस्था है।)

मुरातबा[1]—यह एक विशेष साधना है जो अनुमान की शक्ति बढ़ाने और किसी वस्तुविशेष के रूप को हृदयंगम करने के लिए की जाती है। हर मुरातबे में जानुओं पर बैठना, गर्दन झुकाना, आँखें बंद कर ध्यान करना आवश्यक है। अनेक मुरातबों में से नीचे एक मुरातबे का वर्णन किया जाता है। उससे अन्य मुरातबों का अनुमान किया जा सकता है।

मुरातबा इस्मे ज़ात—इसका यह ढंग है कि वज़ू करके (जल से स्वच्छ होकर) पश्चिम की ओर बैठ जाय और बिस्मिल्ला पढ़कर गर्दन झुकाकर इस्मे ज़ात का ध्यान करे, यानी 'इस्मे अल्लाह' पर एकाग्रचित्त हो। इससे इन्द्रिय की चञ्चलता नष्ट होगी। यदि सांसारिक सम्बन्ध की ओर चित्त दौड़े तो अपने गुरु की ओर ध्यान एकाग्र करे। प्रारम्भ में इस अभ्यास के करने में कठिनाई होगी, किन्तु वह अभ्यास से धीरे-धीरे दूर हो जायगी और मन शान्त हो जायगा।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सूफ़ीमत के चार वर्गों के अनुसार (जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है) साधना के अनेक रूप माने गये हैं, किन्तु यहाँ हमने मुख्य-मुख्य साधनाओं का निर्देश किया है, जो सभी वर्गों में मान्य हैं। इन साधनाओं पर दृष्टि डालकर सरलता से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफ़ीमत का साधना-मार्ग हिंदूधर्म के साधना-मार्ग के कितने अनुरूप है। यह तो दोनों धर्मों का दृष्टिकोण है कि बिना तपस्या और साधना के सांसारिक आकर्षण और मोह नष्ट नहीं हो सकते और आत्मा की अनन्त ज्योति की किरण दृष्टिगत नहीं होती, जिसके प्रकाश में साधक अपना साम्य परमात्मा से कर सकता है। आत्मा की शक्ति को विकसित कर उसे ईश्वरीय ज्योति से विभूषित करना ही इन साधनाओं का उद्देश्य है।

---

१. 'मुरातबा' गर्दन झुकाकर किया जाता है, अरबी ज़बान में 'रक़ब' गर्दन को कहते हैं। इसलिए इसका नाम 'मुरातबा' रक्खा गया है।

कला-काल का दृष्टिकोण

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के बाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला जो लौकिक जीवन के सौन्दर्य को अत्यन्त अनुरंजन के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ हुई। अभी तक जीवन की शारीरिक अनुभूतियों की ओर से कवियों ने आँख बन्द कर ली थी। उन्होंने संसार और शरीर को नश्वर मानते हुए ईश्वर की उपासना को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझा था। मानवी जीवन ने जैसे आध्यात्मिकता का कवच पहन-कर इन्द्रियों को उभरने से रोक दिया था। कला-काल ने उस कवच को उतारकर शरीर को शारीरिकता प्रदान की और नेत्रों को संसार के सौंदर्य का वरदान दिया।

हिन्दी के इतिहासकारों ने कला-काल की बुराई की। उससे साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया[1] आदि; किन्तु यदि कला-काल के साहित्य को देखा जाय तो उसमें जितनी अधिक प्रकृति की विविधरूपता है, उतनी अधिक हिन्दी साहित्य के किसी काल में नहीं है। ऋतु-वर्णन की शैली में प्रत्येक ऋतु का सौंदर्य और उसका मनोभावों पर जो प्रभाव है, उसका चित्रण संयोग और वियोग दोनों पक्षों में बड़ी सरसता के साथ उपस्थित किया गया है। जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों पर नायक-नायिका-भेद लिखनेवाले कवियों ने चाहे विशेष न लिखा हो; किन्तु कला-काल के राष्ट्र-सेवी कवियों ने अवश्य लिखा है। केशवदास ने 'वीरसिंहदेव-चरित्र', मान ने 'राजविलास', भूषण ने 'शिवराजभूषण', गोरेलाल ने 'छत्रप्रकाश', श्रीधर ने 'जंगनामा', सदानन्द ने 'भगवन्तराय रासा', सूदन ने 'सुजान-चरित', जोधराज ने 'हम्मीर रासो', पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' आदि रचनाओं में राजनीति के साथ पौरुषमय जीवन का जितना स्पष्ट और ओजमय चित्रण किया है, वैसा चारण-काल में भी संभव नहीं हो सका। इन्हीं रचनाओं में जीवन अपने वास्तविक पुरुषत्व में उपस्थित किया गया। उपर्युक्त लांछन सम्भवतः कला-काल की श्रृंगारिक रचनाओं को ही दृष्टि में रखकर इस

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २८६, संशोधित संस्करण।

साहित्य पर लगाया गया है। मैं तो यह कहूँगा कि हिन्दी-साहित्य का कला-काल वस्तुतः चारण-काल और भक्ति-काल की प्रेरणाओं को आत्मसात् कर जीवन के लौकिक पक्ष को कभी राजनीति और कभी प्रेम से मिलाकर अत्यन्त कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। इस दृष्टि से कला-काल की रचनाओं पर नाक-भौं सिकोड़नेवाले अलोचकों को कला-काल का अध्ययन कला के सिद्धान्तों को सामने रखकर करना चाहिए।

कला-काल की उपेक्षा इस कारण भी हुई है कि उसमें तुलसीदास, सूरदास, और कबीर की भाँति कोई महाकवि नहीं हुआ; किन्तु महाकवि किसी भी साहित्य में सदैव ही नहीं होते। इस दृष्टि से कला-काल भक्ति-काल से हीन अवश्य है, किन्तु उपेक्षणीय नहीं है। उपर्युक्त महाकवियों ने अध्यात्मवाद की गहराइयों में जीवन को ले जाकर उसे पारलौकिक दृष्टि से सबल बनाया। कला-काल के कवियों ने जीवन का यह आदर्श नहीं रक्खा। उन्होंने संयम से बँधे हुए जीवन को स्वाभाविक स्फूर्ति दी। जहाँ यह स्फूर्ति कुरुचिमय है, वहाँ साहित्य निम्न श्रेणी का हो गया है; किन्तु जहाँ यह स्फूर्ति सुरुचिमय है, वहाँ साहित्य ने जीवन और प्रकृति के सौंदर्य के लिए हमें एक दृष्टि प्रदान की है। मेरे लिखने का तात्पर्य यही है कि कला-काल की आलोचना करते समय हम किसी द्वेष-बुद्धि या किसी कलुषित मनोवृत्ति से काम न लें और साहित्य में जीवन के चित्रण के प्रति उचित न्याय कर सकें।

साहित्य में लौकिक जीवन का चित्रण कोई पाप नहीं है, यदि वह सुरुचिपूर्ण ढंग से हो। राधा और कृष्ण का प्रेम आत्मा और परमात्मा के मिलन का रूपक ही क्यों हो उसमें मानवी अनुराग और आकर्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति क्यों न देखी जाय? और क्या यह सम्भव नहीं है कि अपने चरम आकर्षण में इन्द्रियों की भाषा ही आत्मा की पुकार बन जाय?

रानी केतकी की कहानी

(ठेठ हिन्दी)

सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए। गद्य के उस शैशव में जब गद्य-लेखकों ने लेखनी पकड़ना सीखा था, सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ ने विशेष कार्य किया। जिस समय गद्य का रूप धर्म से निर्मित था और उसमें धार्मिक विचार के प्रचार तथा प्रसार की ही एकमात्र भावना थी उस समय इंशाअल्लाह ख़ाँ के द्वारा लौकिक शृंगार की "कहानी के जोबन का उभार और बोलचाल की दुलहिन का सिंगार" होना उनके अपने व्यक्तित्व का परिचायक है। तत्कालीन गद्य-लेखकों की लेखनी में धर्म ही की रोशनाई थी। वे गद्य की सार्थकता मानव-जीवन की घटनाओं के वर्णन में कभी समझ ही नहीं सकते थे। सारांश में धर्म की शक्ति ही साहित्य-निर्माण का कार्य कर रही थी। ऐसी परिस्थिति में जब जान गिलक्राइस्ट ने फ़ोर्ट विलियम कालेज के लिए पाठ्य पुस्तकों के लिखाने का उपक्रम किया तो लल्लूलाल और सदल मिश्र ने क्रमशः 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। दोनों ने ही धर्म के प्रभुत्व के आगे सिर झुका दिया था और हमारा गद्य धर्म के पैरों पर खड़ा हो रहा था।

उस समय इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। लौकिक कहानी यौवन का विलास लेकर आगे बढ़ी। उसमें उमंगों का उन्माद था। ऐसा ज्ञात होता है कि इंशा की ओर से यह कहानी स्वयं रानी केतकी ने 'अपने मुँह की पीक' से लिखी थी और रसिक हृदय की भावनाएँ 'कूदती फाँदती ढुली पड़तियाँ' थीं।

सम्भव है, यह सब "उभार के दिनों का सुहानापन" इसलिए हो कि इंशा हिन्दू न होकर एक रसिक मुसलमान थे। हिन्दुत्व की धार्मिक भावना इंशा को छू नहीं सकी और वे धर्म को साहित्य पर आरोपित नहीं कर सके। यदि इंशा हिन्दू होते तो शायद 'प्रेमसागर' के समान हमारे सामने कोई दूसरा 'सागर' होता, किन्तु मुसलमानों की साहित्य-परम्परा में 'सागर' के बजाय 'गुलिस्ताँ' या 'बोस्ताँ' में विहार करना ही कवियों का एकमात्र साहित्यिक आदर्श रहा है। इसीलिए इंशा का उन्माद 'रानी केतकी की कहानी' लेकर हमारे सामने आ खड़ा हुआ।

इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यद्यपि इंशा ने धर्म के एकमात्र प्रभुत्व की उपेक्षा कर लौकिक शृंगार की रचना की है, तथापि वे धर्म की प्रचलित भावना की अवहेलना नहीं कर सके। उन्हें अपनी कहानी में "आना जोगी मछन्दर का कैलाश पहाड़ पर से और राजा इंदर को चिट्ठी लिख भेजना" और "मच्छ कच्छ बाराह सन्मुख आए, कहीं परशुराम कहीं वामन रूप, कहीं हरनाकुस और कहीं नरसिंह, कहीं राम लछमन सीता आई" आदि को स्थान देना पड़ा।

किसी व्यक्ति की लेखन-शैली उसके व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। इंशा के व्यक्तित्व ने भी उनकी शैली को प्रभावित किया है। इंशा के जीवन-वृत्त के अनुसार पिता मीर माशाअल्लाह ख़ाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे और वहाँ वे राजा के हकीम हो गए थे। उनके हृदय में "बर रूए ज़मीनस्त फ़िरदौस" की स्मृतियाँ संचित थीं जिन्होंने उनके पुत्र इंशाअल्लाह ख़ाँ के हृदय में अपना अधिवास अवश्य बना लिया होगा। साथ ही पिता ने इंशा की शिक्षा का प्रबन्ध भी सर्वोत्तम किया था। इस विषय पर प्रो० आज़ाद लिखते हैं :

"जिस तरह अगले वक्तों में ख़ान्दानी अमीरज़ादे तअ़लीम पाते थे उसी तरह सैयद इंशा को सब ज़रूरी उलूमो फ़ुनून से माहर किया। बाप के लिए मिसाल दे सकते हैं कि अज़ीज़ बेटे को इस ख़ूबसूरती से तअ़लीम किया मगर बेटा जो जौहरदार तबीयत अपने साथ लाया था, उसकी कोई मिसाल नहीं है। जब यह होनहार नौनिहाल तअ़लीम के चमन से निकला तो हर रेशः में कोंपल, पत्ते, फूल, फल की क़ुबाए-मुख़्तलिफ़ मौजूद थीं। इस तरह कि जिस सरज़मीं पर लगे वहीं की आबोहवा के बमूजिब बहार दिखलाने लगे। ऐसा तब्बाअ़ और आली दिमाग़ आदमी हिन्दोस्तान में कम पैदा हुआ होगा। वह अगर उलूम में से किसी एक फ़न की तरफ़ मुतवज्जह होते तो सदहा साल तक वहीदे अस्र गिने जाते। तबीयत एक हयूला थी कि हर क़िस्म की सूरत पकड़ सकती थी। बावजूद इसके शोख़ी इस क़दर कि सीमाब की तरह एक जा क़रार न था। चुनांचे कुल्लियात इन सब मरातिब के लिए मज़हरे शहादत है। इनकी तबीयत जो शेर की तरह किसी का जूठा शिकार न खाती थी पेशः आबाई पर मायल न हुई। लेकिन चूँकि ऐसे रंगारंग ख़यालात का सिवाय शायरी के और फ़न में गुज़ारा नहीं, इसीलिए शायरी की तरफ झुके जिससे इन्हें रब्त .ख़ुदादाद था। इस कूचे में भी अपना रास्ता सब से जुदा निकाल कर दाख़िल हुए।

…इनके अल्फ़ाज़ जो मोती की तरह रेशम पर ढलकते आते हैं इसका सबब यही कह सकते हैं कि क़ुदरती फ़साहत और सफ़ाई कलाम के सबब से है और कलाम का

बन्दोबस्त जो आरगन बाजे की कसावट रखता है। यह बन्दिश की चुस्ती और उस्तख़्वाँ बंदी अल्फ़ाज़ की ख़ूबी है मगर अजीब बात यह है कि इनकी ज़बान जो फ़साहत का साँचा है उससे अगर बेमानी अल्फ़ाज़ भी तरकीब खाकर निकलते हैं तो मज़ा ही देते हैं।[1]

इंशा के इस लौकिक दृष्टिकोण के साथ उनके सामने उनकी भाषा का एक आदर्श भी था। वे अपनी कहानी ठेठ हिन्दी में लिखना चाहते थे। 'रानी केतकी की कहानी' में वे अपना उद्देश्य इस प्रकार लिखते हैं :

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि—कोई ऐसी कहानी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले।...बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो...हिंदवीपन भी न निकले, और भाखापन भी न हो बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो..."

इस उद्देश्य से इनकी भाषा का रूप इस प्रकार बनता है :

१—हिन्दी के सिवाय अन्य किसी बोली का प्रयोग न हो।

२—विदेशी भाषा और ग्रामीण बोली का बहिष्कार हो।

३—हिन्दी के स्वरूप की रक्षा करते हुए भाखा (ब्रजभाषा) का प्रभाव न पड़ने पावे।

४—शिष्ट लोगों की व्यावहारिक भाषा हो।

इंशा ने कहाँ तक इन सिद्धान्तों का पालन किया है यह तो उनकी कहानी पढ़ने से ज्ञात हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने दिल्ली के समीप बोली जानेवाली खड़ी बोली हिन्दी की रूपरेखा यथाविधि सुरक्षित रक्खी है पर उसमें विदेशी भाषा, ब्रजभाषा और ग्रामीण बोली के शब्द ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अवश्य कहीं कहीं आ गये हैं। फारसी का 'कि', ब्रजभाषा का 'गायने' और ग्रामीण बोली का 'पसेरियन' शब्द उदाहरणार्थ कहानी में द्रष्टव्य है। बहुत सम्भव है कि ये शब्द शिष्ट लोगों की व्यावहारिक भाषा के अन्तर्गत हों इसलिए चौथे सिद्धांत के कारण इंशा की भाषा में ग्राह्य हों। अथवा उस समय दिल्ली की बोली में ये शब्द विदेशी या ग्रामीण न समझे जाते हों। जो हो, यदि इंशा ने अपने आदर्शों की पूर्ति सफलता-पूर्वक की है तो हम उनकी भाषा को तत्कालीन शिष्ट भाषा का रूप मानकर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से

१. प्रो० आज़ाद लिखित 'आबे हयात', पृष्ठ २२६

उसके इतिहास पर विचार कर सकते हैं। भाषा के प्रयोग में उन्हें असफल इसीलिए नहीं कह सकते क्योंकि उनके सामने उनके अपने सिद्धान्त थे और वे स्वयं उर्दू और फ़ारसी के विद्वान् और कुशल लेखक थे।

अब इनकी कथा-शैली के सम्बन्ध में विचार करना है। इनकी कथा लौकिक ही है। उसमें एक प्रेम-कहानी है। एक नवयुवक राजकुमार अकस्मात् एक राजकुमारी से मिल जाता है। दोनों में प्रेम हो जाता है पर वे मिल नहीं सकते। मन्त्र या जादू के बल से नायक हरिण के रूप में परिवर्तित हो जाता है और दोनों विरही हो जाते हैं। राजकुमारी के सच्चे प्रेम से मन्त्र-बल का नाश होता है और दोनों मिल जाते हैं। कथा में कोई नवीनता नहीं है। पुरानी मसनवियों और आख्यानक काव्यों की प्रेम-कहानी बहुत कुछ इसी प्रकार की होती थी। इसका वातावरण 'सहस्र रजनी चरित्र' जैसा ही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रेम-कहानी के वर्णन में मौलिकता है। इसमें घटना की विचित्रता लाने के लिए पौराणिक नामों का और गोरखनाथ के हठ-योग सम्बन्धी कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग अवश्य किया गया है। साथ ही साथ वर्णन में रोचकता लाने के लिए इंशा ने अपनी काव्यमयी प्रवृत्ति का परिचय भी ख़ूब दिया है क्योंकि स्थान-स्थान पर पद्य की पंक्तियाँ कथानक को बढ़ाती हुई रस की सृष्टि करने में सहायक हैं। सारी कथा हिन्दू पात्रों को लेकर मुसलमानी ढंग से वर्णित है। मसनवी की शैली के अनुसार प्रारम्भ में अपने बनानेवाले के सामने इंशा ने "सर झुकाकर" नाक रगड़ी है। उसके बाद अपने दाता के भेजे हुए प्यारे (मुहम्मद) को 'रात दिन जपता' है। तत्पश्चात् प्रत्येक घटना की सूचना के लिए अलग-अलग शीर्षक हैं। इसलिए यह गद्य की शैली हिन्दी के लिए सम्पूर्ण रूप से विदेशी है।

मुसलमान होने के कारण लेखक हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं की रूपरेखा अच्छी तरह नहीं खींच सका। उसने केवल नाच-तमाशे में उनका 'सवांग' उपस्थित किया है। "कहीं गोरख जागे, कहीं मछन्दर भागे। कहीं मच्छ, कच्छ, वाराह सन्मुख हुए। कहीं परसुराम, कहीं वामन रूप, कहीं हरनाकुश और नरसिंह, कहीं राम लछन सीता समेत आईं, कहीं रावन और लङ्का का बखेड़ा सारे का सारा सामने दिखाई देने लगा। कहीं महादेव और पार्वती दिखाई पड़े। कहीं कन्हैयाजी की जनम अष्टमी होना और बसुदेव का गोकुल ले जाना और उनका बढ़ चलना, गाएँ चरानी और मुरली बजानी और गोपियों से धूम मचानी···आदि।" इसी प्रकार बहुत-सी कथाओं का उल्लेख है। इंशा ने सवैया का रूप भी अपने 'चौतुक्का' में विकृत कर दिया है।

जब छाँड़ि करील की कुञ्जन को हरि द्वारिका जी माँ जाय बसे।
कुलधूत के धाम बनाय घने महराजन के महराज भए॥
तजि मोर मुकुट अरु कामरिया कछु औरहि नाते जोड़ लिए।
धरे रूप नए किये नेह नए अरु गइयाँ चरावन भूल गए॥

लेखक ने इस प्रकार सुनी-सुनाई हिन्दू धर्म की कथाओं और काव्य-रचनाओं के आधार पर ही अपने इस अवतरण की रचना की है और अपने हिन्दू पात्रों के जीवन में यथास्थान जमा दी है।

इंशा का कौशल इसी में है कि उनकी कथा प्रेम-कहानी होते हुए भी अश्लीलता के कलंक से बची हुई है। यह बात दूसरी है कि प्रेम की चरम सीमा में असम्भव घटनाओं की सृष्टि अवश्य हो गई है। "आना जोगी महेन्दर गिर का कैलास पहाड़ पर से और कुँवर उदैभान और उसके माँ बाप का हिरनी-हिरन कर डालना", "हिरनी-हिरन का खेल बिगड़ना और कुँवर उदैभान और उसके माँ-बाप का नये सिरे से रूप पकड़ना।" कहानी में एक शब्द अवश्य ऐसा आया है जो पाठकों को कुरुचिपूर्ण ज्ञात हो सकता है। वह शब्द है 'रंडी'; कहानी में उसका प्रयोग पाँच बार हुआ है :

१—इतने में अमराइयाँ ध्यान चढ़ीं, उधर चल निकला तो क्या देखता है जो चालीस-पचास *रंडियाँ* एक-से-एक जोबन में अगली झूला डाले पड़ी झूल रही हैं।[1]

२—हक न धक जो तुम झट से टपक पड़े, यह न जाना जो यहाँ *रंडियाँ* अपने झूल रही हैं।[2]

३—वहाँ का यह सौहिला है, कुछ *रंडियाँ* झूला डाले झूल रही थीं।[3]

४—राजा इंदर ने कह दिया, वह *रंडियाँ* चुलबुलियाँ जो अपने मद में उड़ चलियाँ हैं......![4]

५—बल वे ऐ *रंडी* तेरे दाँतों के मिस्सी की धड़ी।[5]

इन पाँचों संदर्भों को देखकर 'रंडी' शब्द का अर्थ 'आमोद-प्रमोद में मग्न स्त्री' ही माना जाना चाहिए। इसमें अश्लीलता की छाया भी नहीं है। सम्भव है, 'रंडी' का

---

१. रानी केतकी की कहानी, पृष्ठ ५
२. वही, पृष्ठ ५
३. वही, पृष्ठ १०
४. वही, पृष्ठ ३२
५. वही, पृष्ठ ४३

सम्बन्ध आमोद-प्रमोद से रहने के कारण उसमें धीरे-धीरे अश्लीलता का भाव आ गया हो। पर 'रंडी' के वास्तविक अर्थ में प्रमोद का ही भाव अधिक है।

इंशा की भाषा मँजी हुई है। उसमें प्रवाह है और साथ ही स्वाभाविकता। परिश्रम से ठेठ हिन्दी लिखने की संकुचित सीमा में बाहर के शब्द न लाते हुए स्वाभाविकता की रक्षा करना बहुत कठिन है, पर इंशा इसमें सफल हुए हैं। इससे उनका भाषाधिकार स्पष्ट प्रकट होता है। उनके शब्द और वाक्य इतने मनोहर और कोमल हैं कि उनके लिए प्रो० आज़ाद की उक्ति 'मोतियों की तरह रेशम पर ढुलकते आते हैं' सार्थक है। उनकी भाषा में मुहावरों का जितना उपयुक्त और मधुर प्रयोग हुआ है उतना उनके समकालीन किसी भी लेखक की भाषा में नहीं।

'ठंडे-ठंडे चलेजाओ', 'जैसा मुँह वैसा थप्पड़', 'पत्ता-पत्ता मेरे जी का गाहक हुआ', 'अब तो मेरा जी ओठों पर आ गया', 'रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगीं', 'इस बात पर पानी डाल दो' आदि मुहावरे बहुत आकर्षक हैं। सन् १८५२ में मिस्टर शिंट ने इस कहानी को बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में अँग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर इस पर सम्मति दी थी कि यह हिन्दी शब्दों और मुहावरों का कोष है। वर्णन-शैली पर लेखक का इतना अधिकार है कि वह वस्तु-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष का अनावश्यक वर्णन-विस्तार करता चला है, जैसे अतीतों का वर्णन, अथवा रानी केतकी के विवाह का उत्सव, घाटों का वर्णन आदि। इसमें भाषा का सौन्दर्य भले ही देखने को मिल जाय पर कथा का सौन्दर्य नहीं। हाँ, यह अनावश्यक वस्तु विस्तार केवल कहानी कहने के ढंग को प्रकट करता है। भाषा के सम्बन्ध में एक बात और है। विशेषणों और कृदन्त क्रियाओं में उन्होंने बहुवचन के चिह्नों का प्रयोग किया है। उर्दू के प्रारम्भिक काल में ऐसे प्रयोग बहुत प्रचलित थे, उन्हीं को इंशा ने गद्य में भी प्रयुक्त कर दिया है। 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं', 'घरवालियाँ बहलातियाँ हैं', 'गाती-बजाती, कूदती-फाँदती, धूमें मचातियाँ, अंगड़ातियाँ, जँभातियाँ, उँगली नचातियाँ और ढुली पड़तियाँ थीं।' इन प्रयोगों के सम्बन्ध में दो बातें ज्ञात होती हैं। पहली तो यह कि इनके प्रयोग अधिकतर स्त्रीलिंग रूपों में ही हुआ करते थे और दूसरी, इनका प्रयोग लेखक की इच्छा पर निर्भर रहता था। किसी क्रिया रूप में वह बहुवचन का प्रयोग करता था किसी में नहीं, जैसे 'दोनों जनियाँ एक अच्छी सी छाँव को ताड़कर आ बैठियाँ और अपनी-अपनी दुहराने लगीं।'

इंशा विनोद-प्रिय थे। उन्होंने अपनी रँगीली तबीयत का नक़शा अपनी कहानी में ख़ूब उतारा है। "जब तक माँ-बाप जैसा कुछ होता चला आता है, उसी डौल से

बेटा-बेटी को किसी पर पटक न मारें, और सर से किसी के चपेक न दें तब तक यह एक जी तो क्या जो करोर जी जाते रहें कोई बात तो हमें रुचती नहीं।" लिखकर उन्होंने वैवाहिक जीवन की अच्छी चुटकी ली है। इसी प्रकार ईश्वर से भी उन्होंने विनोद किया है—

देखने को दो आँखें दीं और सुनने को दो कान।
नाक भी सब में ऊँची कर दी मरतों को जी दान॥

"नाक का ऊँची करना" मुहवरा होते हुए भी हास्य की सृष्टि करता है। कहानी में अनेक स्थानों पर इंशा ने अपनी परिहासपूर्ण प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

इंशा ने यह कहानी लिखकर ठेठ हिन्दी की भाषा में भी गद्य का बड़ा प्रौढ़ उदाहरण दिया है। अपने समकालीन गद्य-लेखकों में इसी कारण इंशा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

अभी तक 'रानी केतकी की कहानी' के सम्पादन के लिए निम्नलिखित आधार प्राप्त हुए हैं :

१—सन् १८४६ में प्रकाशित कलकत्ते की प्रति।
२—सन् १८५२ में " बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का २१वाँ और २४वाँ भाग।
३—सन् १८७४ में " राजा शिवप्रसाद का गुटका।
४—सन् १६०५ में " लखनऊ की प्रति।

सन् १८४६ की छपी हुई प्रति ही सब से प्राचीन प्रति है। उसके मुखपृष्ठ पर एक अन्य छपी हुई प्रति का निर्देश मिलता है जो मुंशी हरीराम पंडितजी लखनऊ निवासी ने संग्रहीत की थी। उसका प्रकाशन सन् नहीं दिया। केवल यही उस प्रति में प्रकाशित है—

कहानी रानी केतकी की

ठेठ हिन्दुस्तानी भाषा में जो आगे मुंशी हरीराम पण्डित जी लखनऊवासी ने संग्रह किई थी सो अब कहीं देख नहीं पड़ती और गुण ग्राहकों को ऐसे पदार्थ के पढ़ने सुनने की बड़ी चाहत रहती है इसलिए श्रीयुत कृपाकर दयावर श्री मधुसूदनजी जयपुर निवासी स्कूल बुक सुसैटी के ग्रन्थ शोधक और परम मित्र अति सुबुद्धि श्रीयुत लक्ष्मीनारायण पण्डित इसटाम्प मुंशीजी की इच्छा से

श्री विष्णुनारायण पण्डित ने मुद्राङ्कित करवाया।

भारतेन्दु के साहित्यिक आदर्श

हिन्दी गद्य के विकास में भारतेन्दु की प्रतिभा ने जो कार्य किया वह अभी तक के गद्य-लेखकों की सम्मिलित शक्तियों से भी नहीं हो सका था। इतनी बात तो मान्य है कि भारतेन्दु के पूर्ववर्ती लेखकों ने गद्य में साहित्य-रचना की भावना को जन्म अवश्य दे दिया था। पद्यमय साहित्य-सृष्टि की सीमित प्रवृत्ति में विकास की स्थिति प्रकट होने लगी थी और धर्म की भावना भी गद्य में प्रकाशित होने का मार्ग खोज रही थी। विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ की पुष्टिमार्ग सम्बन्धी कथित वार्ताएँ, सदासुख, लल्लूलाल और सदलमिश्र की धार्मिक और नीति सम्बन्धी आख्यायिकाएँ, सैयद इंशा की प्रयोगात्मक ठेठ कहानी और शिवप्रसाद सितार-ए-हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह की क्रमशः ऐतिहासिक और साहित्यिक कृतियाँ गद्य का शिलान्यास ही नहीं कर चुकी थीं, वरन् उसके निर्माण की ओर अग्रसर भी हो चुकी थीं। आवश्यकता इस बात की थी कि गद्य में पद्य की भाँति साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि की जावे। गद्य भी उतना ही सुभग और स्पष्ट हो जितना पद्य। उसमें भी पद्य जैसी सुरुचि और व्यञ्जना हो। इस प्रकार के गद्य का निर्माण भारतेन्दु की लेखनी से हुआ। इस कथन को और भी स्पष्ट करना आवश्यक है।

भारतेन्दु की लेखनी में बल था इसीलिए उनके द्वारा गद्य की परिष्कृत शैली सम्पादित हुई। वस्तुतः इस स्थिति के शीघ्र पा जाने में अभी समय की अपेक्षा थी क्योंकि भारतेन्दु के पूर्व लेखकों का दृष्टिकोण ही दूसरा था। गोकुलनाथ और सदासुख का आदर्श धार्मिक विचारों का प्रचार था। अतएव गद्य के सौन्दर्य की ओर वे ध्यान नहीं दे सकते थे। इसी प्रकार लल्लूलाल और सदल पाठ्य पुस्तकें लिखते हुए भी उपदेशात्मक प्रवृत्ति की अवहेलना नहीं कर सके। इंशा ने तो मनोरंजन के लिए भाषा के साथ विनोद किया है। शिवप्रसाद और लक्ष्मणसिंह ने गद्य की रूप-रेखा सोचना प्रारम्भ कर दिया था पर दोनों अपने-अपने आदर्शों के लिए लड़ रहे थे। शिवप्रसाद ने अरबी और फ़ारसी शब्दों की ओर रुचि दिखलाई और लक्ष्मणसिंह ने ब्रजभाषा के प्राचीन शब्दों की ओर ममता प्रदर्शित की। इस प्रकार शिष्ट गद्य की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी भारतेन्दु के पूर्ववर्ती लेखक असफल रहे।

गद्य के इस परिष्करण में बहुत सी शक्तियाँ काम कर रही थीं। पहली तो

यह थी कि शृंगार के बोझ से लदी हुई ब्रजभाषा की कविता ने एक ही विषय के पिष्टपेषण से कुरुचि उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार कविता जो साहित्य की एकमात्र शासिका थी अपने महत्व के पद से गिरने लगी और रुचि-वैचित्र्य के लिए गद्य की आवश्यकता ज्ञात हुई। दूसरी बात यह थी कि साहित्य के अंगों का निरूपण पद्य में विस्तार-पूर्वक स्पष्टता के साथ नहीं हो सकता था, इसलिए भी गद्य की आवश्यकता हुई। तीसरी बात यह थी कि अंग्रेज़ी शासन ने भावों की परिधि बहुत विस्तृत कर दी थी और अनेक विषयों की विवेचना के लिए गद्य का सहारा लेना अनिवार्य हो गया था। साथ ही साथ अंग्रेज़ी और बंगला साहित्य के सम्पर्क में आने से हिन्दी साहित्य ने उनके नाटक और उपन्यास के वैभव की ओर दृष्टिपात कर उसी मार्ग का अवलम्बन भी किया। इसके लिए गद्य की आवश्यकता हुई और साहित्यिक गद्य के निर्माण की भावना प्रधान रूप से सामने आई। ईसाइयों के धर्म-प्रचार और स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों ने भी परिष्कृत गद्य के लिए मार्ग तैयार किया पर भारतेन्दु जिस प्रवृत्ति से शुद्ध गद्य लिखने के लिए प्रेरित हुए थे वह अंग्रेज़ी और बंगला की साहित्य-श्री से ही उद्भूत हुई थी। क्योंकि हम देखते हैं कि भारतेन्दु जी का सब से पहला नाटक बंगला नाटक 'विद्यासुंदर' का अनुवाद ही है और 'सत्य हरिश्चन्द्र' उनके मित्र बा० बालेश्वरप्रसाद बी० ए० की इच्छा से अंग्रेज़ी नाटकों की शैली पर ही लिखा गया है।

सब से पहले भारतेन्दु ने गद्य की भाषा की ओर ध्यान दिया। उन्होंने भाषा को सरल और शुद्ध कर उसे मधुर और प्रवाहयुक्त बना दिया। भारतेन्दु ने भाषा को प्राचीन लेखकों की ब्रजभाषा, बिहारी अथवा उर्दू फ़ारसी के अत्यधिक प्रभाव से मुक्त कर ऐसा परिष्कृत और शिष्ट रूप दिया जो अपने सहारे खड़ा हो सके और अन्य भाषाओं के साथ अपनी संस्कृति लेकर नवीन युग का संदेश दे सके। ऐसा गद्य साहित्य में कितना लोकप्रिय हुआ, यह उनके समकालीन गद्य की प्रगति से ज्ञात हो सकता है।

भाव की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने युग-परिवर्तनकारी साहित्य की सृष्टि की। भक्ति, नीति और शृंगार की परिधि में ही साहित्य क़ैद था। भारतेन्दु ने नवयुग के देश-प्रेम जाति-प्रेम, समाज-संगठन आदि विषयों से अपनी कृतियों की रूपरेखा बनाई और साहित्य में उन्नतिशील और तत्कालीन जीवन की प्रवृत्तियों का चित्र खींचकर साहित्य को सजीव बनाया।

इस प्रकार भारतेन्दु ने भाषा और भाव दोनों का परिष्करण किया। भाव के दृष्टिकोण से उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में क्रान्ति सी उपस्थित

कर दी। सामाजिक क्रान्ति उन्होंने नीलदेवी (२५ दिसम्बर सन् १८८१, संवत् १६३८) में ऐतिहासिक गीतिरूपक के रूप में लिखकर की। वे भूमिका में स्वयं लिखते हैं :—

"इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें किन्तु और जिन बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने सन्तानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहिचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान दीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परंपरा मात्र है और कुछ नहीं है। आर्यजन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने के हेतु यह ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगों के कोमल करकमलों में समर्पित होता है।"

बाबू श्यामसुन्दरदास जी के मतानुसार "जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेन्दुजी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।"[1] अपने अधिकार और गौरव की रक्षा करने के लिए यदि उग्र रूप धारण करने की आवश्यकता हो, तो वह प्रतिहिंसा नहीं कही जा सकती। नीलदेवी अपनी मर्यादा का निर्वाह करने, 'दासत्व स्वीकार' न करने, "कौशल से लड़ाई" करने और अपने पति सूर्यदेव की मृत्यु का दण्ड देने के लिए ही गायिका का रूप धारण करती है और अमीर अबदुश्शरीफ़ के "लो जान साहब" कहने पर अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए ही "कटार निकाल कर अमीर को मारती है।"[2] इसमें स्त्री के लिए साहस, उत्साह, पातिव्रत, शील और क्रियात्मक होने की शिक्षा है। आर्य-गौरव की रक्षा के साथ साथ स्त्री-आदर्श की प्रेरणा भी भारतेन्दु के नाटक में स्पष्ट लक्षित होती है। इस प्रकार वे समाज में स्त्री को मर्यादापूर्ण शक्ति से समन्वित देखना चाहते हैं।

भारतेन्दु ने धार्मिक क्रान्ति 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन (संवत्

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ६८

२. भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ३६४

१६३०, सन् १८७३) में प्रदर्शित की। धर्म के नाम पर कितना आडम्बर, अनाचार और पाखंड होता है, इसी का सजीव वर्णन उस प्रहसन में है। पूजा करने के लिए कितनी हिंसा होती है, इसका वीभत्सपूर्ण वर्णन उस प्रहसन में किया गया है। प्रथम अंक में राजा कहता है "तो कल हम बड़ी पूजा करेंगे। एक लाख बकरा और बहुत से पक्षी मँगवा रखना।" 'भागवत', 'मनुस्मृति', 'पराशरस्मृति' आदि के उद्धरणों का उपहास किया गया है। अन्त में 'नासिकेतोपाख्यान' की भाँति जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार उसे यमराज के द्वारा दंड की व्यवस्था दी गई है। इस प्रकार भारतेन्दु ने धर्म के क्षेत्र से पाखंड, हिंसा, आडंबर आदि के निर्वासित करने की निश्चित धारणा प्रदर्शित की है। जब चतुर्थ अंक में राजा यमराज से हाथ जोड़कर कहता है—"महाराज, मैंने तो अपने जान सब धर्म ही किया कोई पाप नहीं किया, जो मांस खाया वह देवता पितर को चढ़ाकर खाया और देखिए 'महाभारत' में लिखा है कि ब्राह्मणों ने भूख के मारे गोवध करके खा लिया पर श्राद्ध कर लिया था, इससे कुछ नहीं हुआ... अंग्रेजों के राज्य में इतनी गोहिंसा होती है, सब हिन्दू बीफ़ खाते हैं उन्हें आप नहीं दंड देते और हाय, हमसे धार्मिक की यह दशा, दुहाई वेदों की, दुहाई धर्मशास्त्र की, दुहाई व्यासजी की, हाय रे मैं इनके भरोसे मारा गया" तब उसे कोड़े लगते हैं और वह 'अंधतामिस्र' नामक नरक में डाला जाता है। शैव और वैष्णव अपनी 'अकृत्रिम भक्ति' से कैलाश और बैकुंठ का वास पाते हैं और ईश्वर से 'सामीप्य मुक्ति' प्राप्त करते हैं। शैव और वैष्णव अंत में 'भरतवाक्य' में स्वार्थमय धर्म के दूर होने की मंगल-कामना करते हैं। इस 'भरतवाक्य' में भारतेन्दु का कंठस्वर गूँज रहा है:

निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद में भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल के विष बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं॥

इसके अतिरिक्त 'श्रीहरिश्चन्द्रकला' के चतुर्थ भाग[1] ('भक्तसर्वस्व') में जितने ग्रंथ संग्रहीत हैं[2]। उन सभों से भारतेन्दु के धार्मिक आदर्शों का परिचय प्राप्त होता है। वे श्रीवल्लभीय सम्प्रदाय के थे। उन्हीं के शब्दों में "हम तो मोल लिये या घर

---

१. रायबहादुर रामरणविजयसिंह द्वारा संग्रहीत, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित, सन् १६२८ (संवत् १६८५)

२. वे ग्रंथ इस प्रकार हैं—भक्त सर्वस्व, वैष्णव सर्वस्व, वल्लभीय सर्वस्व, युगल

के। दास दास श्री वल्लभकुल के चाकर राधावर के" और "हम तो श्री वल्लभ को जानैं। सेवत वल्लभ पद पंकज को वल्लभ ही को ध्यावैं।...हरीचंद वल्लभपद बल सों इन्द्रहु को नहिं मानै"। वे श्रीकृष्ण के उपासक थे। 'श्रीहरिश्चन्द्रकला' के पांचवें भाग "काव्यामृत प्रवाह" में भक्ति और धार्मिक आदर्शों का बड़ा सजीव और प्रेममय चित्रण है। अपने प्रेम के आदर्श को स्पष्ट करते हुए वे 'तदीयसर्वस्व' की भूमिका में कहते हैं—"हमारा धर्म ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से या एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले सड़े सूत व चिउंटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है। हाय !!!

...इसमें मुक्तकंठ से कहा गया है कि केवल प्रेम परमेश्वर का दिव्य मार्ग है। निश्चय रक्खै कि परमेश्वर को पाने का पथ केवल प्रेम है। और बातें चाहे धर्म की हों या लोक की, दोनों बेड़ी ही हैं। बिना शुद्ध प्रेम न लोक है, न परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति वा कुटुम्ब से तुम्हारा सम्बन्ध है और जिस देश में तुम हो उससे सहज सरल प्रेम करो और अपने परम पिता परम गुरु परमपूज्य परमात्मा प्रियतम को केवल प्रेम से ढूँढ़ो। बस, और कोई साधन नहीं है।"

राजनीतिक क्रान्ति उन्होंने अपने देश-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण देकर साहित्य-प्रेम के साथ ही प्रदर्शित की। अपने देश-प्रेम का परिचय उन्होंने 'भारत दुर्दशा' लिख कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने अन्य ग्रंथों में भी अपने देश-प्रेम की झलक इंगित कर दी है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में उनकी राष्ट्रीय भावना इतनी स्वतंत्र हो गई है कि वे अपने को रोक भी नहीं सके और नाटक के अंत में 'भरतवाक्य' के रूप में उन्होंने राजा हरिश्चन्द्र के मुख से यह कहला दिया :

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होंहि हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै ॥

'भारतेन्दु नाटकावली', पृष्ठ ४६०

'यहाँ सत्व निज भारत गहै' में पराधीन भारत के पूर्ण स्वतंत्र होने की ओर

सर्वस्व, तदीय सर्वस्व, भक्ति सूत्र वैजयन्ती, सर्वोत्तम स्तोत्र भाषा, उत्तरार्ध भक्तमाल, उत्सवावली, वैष्णवता और भारतवर्ष, अष्टादश पुराणोपक्रमणिका, वैशाख महात्म्य, कार्तिक कर्मविधि, कार्तिक नैमित्तिक कृत्य, कार्तिक स्नान, मार्गशीर्ष महिमा, माघ स्नानविधि, पुरुषोत्तम मास विधान, पुरुषोत्तम पंचक, गीतगोविन्दानन्द, क़ुरानशरीफ तथा ईशू खीष्ट और ईश कृष्ण, तहकीकातपुरी की तहक़ीक़ात।

संकेत है। इसका कारण शायद यह हो कि यह समय सन् १८५७ के विद्रोह के बाद का था और जनता के हृदय में इस समय राज्य के प्रति असंतोष आ गया था। इस प्रकार भारतेन्दु अपने समय में भी भारत की स्वाधीनता का स्वप्न देख रहे थे। 'भारत दुर्दशा' नाट्य रासक[1] में आधुनिक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के करुणापूर्ण वर्णन के साथ आधुनिक कुरीतियों का बहुत सजीव चित्रण किया गया है। भारतवासियों की अकर्मण्यता का भी बहुत विनोद-पूर्ण वर्णन है। अन्त में भारत-भाग्य का लम्बे स्वगत-कथनों में भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए आत्मघात करना पाठकों के हृदय में करुण भावना की सृष्टि करता है। इसमें भारतेन्दु का देश-प्रेम प्रत्येक पंक्ति से लक्षित होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि नाटककार के हृदय में देश में प्रचलित कुरीतियों और देश को नष्ट करनेवाले दोषों के प्रति आंतरिक क्षोभ है और वह भारत के उद्धार के लिए कोई मार्ग नहीं देख रहा है। तभी तो भारत-भाग्य से आत्मघात कराकर वह दर्शकों और पाठकों को भारत की वर्तमान वस्तु-स्थिति से पूर्ण परिचित करा देता है। इस निराशापूर्ण अन्त से यद्यपि नाटककार कोई उज्ज्वल भविष्य की कल्पना नहीं करता तथापि वह अपने पाठकों के हृदय में देश की दशा पर आँसू बहाकर उसके प्रति प्रेम अवश्य जगा देता है। इस प्रकार दुःखान्त नाटक ही में नाटककार अपने उद्देश्य की चरम सफलता पाने का प्रयत्न करता है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि भारतेन्दु के समय में देश की अवस्था परिवर्तनकाल में थी। इस समय राजनीति के क्षेत्र में अनेक विप्लव हो गए थे और शासन और सभ्यता का दूसरा ही दृष्टिकोण हो गया था। पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव देश में व्यापक रूप से हो गया था और जनसमुदाय की दृष्टि देश के संगठित स्वरूप की ओर जाने लगी थी। यही कारण था कि भारतेन्दु ने जनता की भावना का प्रतिनिधित्व अपने नाटकों में बड़ी सफलता के साथ किया। एक बात अवश्य हमारे सामने आती है। यद्यपि भारतेन्दु ने कहीं-कहीं अवसर पाकर जनता की स्वतन्त्र होने वाली इस प्रवृत्ति का प्रकाशन कर दिया है तथापि वे सभी स्थानों पर ऐसा नहीं कर

---

१. एक प्रकार का उपरूपक दृश्य काव्य। इसमें केवल एक ही अंक होता है। नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, उपनायक पीठमर्द होते हैं। इसमें प्रत्येक प्रकार के गान और नृत्य होते हैं।

शब्दसागर, पृष्ठ १७६१

सके। इसका कारण सम्भवतः राज्य-भय हो, क्योंकि भारतेन्दु ने अपने स्वतन्त्र विचार की घोषणा करते हुए भी अपने नाटकों के अनेक स्थलों पर अपनी राज-भक्ति प्रदर्शित की है, यद्यपि उस राज-भक्ति के अन्तराल में देश-भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित है। उदाहरणार्थ :

(अ) भारत—(डरता और काँपता हुआ रोकर)...हाय, परमेश्वर बैकुण्ठ में और राज्यराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?[1]

(आ) भारत भाग्य—अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज़ों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे ?[2]

(इ) भारत भाग्य—हा, भारत, तेरी क्या दशा हो गई ? हे करुणासागर भगवान, इधर भी दृष्टि कर ! हे भगवती राजराजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो।[3]

(ई) भंडाचार्य—*हरिपद में रति होइ न दुख कोऊ कहँ व्यापै।*
अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै ॥[4]

इन उद्धरणों को देखकर हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु के हृदय में देश-भक्ति और राज-भक्ति का अन्तर्द्वन्द्व अवश्य था। अवसर पाकर करुण परिस्थितियों के चित्रण में देश-भक्ति स्पष्ट रूप से स्वतन्त्रता की ओर संकेत करती है। 'नीलदेवी' के सातवें अंक में भारतेन्दु भारत के अन्धकारपूर्ण भाग्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :

स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहै।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै ॥[5]

अपने नाटकों में भारतेन्दु ने पश्चिमी सभ्यता का वर्णन अवश्य किया है, पर उन्होंने यह बतलाया है कि भारत की संस्कृति ही भारत के लिए श्रेयस्कर है :

जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ॥

× × ×
× × ×

---

१. भारत दुर्दशा, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ६००

२. वही, पृष्ठ ६३५

३. वही, पृष्ठ ६३६

४. विषस्य विषमौषधम्, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ५६३

५. नीलदेवी, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ६६१

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ॥[1]

इस प्रकार हम भारतेन्दु के हृदय में भारत के एक संगठित रूप की चित्र-रेखा पाते हैं। उनकी राष्ट्रीयता बहुत ही परिष्कृत है। उनके सामने भारत के अधिकारों का प्रश्न है। वे 'राज-कर' के भी विरुद्ध हैं। इसीलिये तो वे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के 'भरतवाक्य' में लिखते हैं :

खल के विष बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पर जल बरसावैं ॥[2]

उनके सामने राष्ट्र की एकरूपता का चित्र है पर वे किन्हीं परिस्थितियों के कारण उसे स्पष्ट रूप से सामने नहीं रख सकते। उनके हृदय में देश के 'सत्व' के प्राप्त करने की आकांक्षा है और वे उस आकांक्षा को हिन्दी पाठकों के सामने यथावसर रख भी देते हैं।

उन्होंने जो साहित्यिक क्रान्ति की है उससे तो इतिहास की रूपरेखा ही निर्मित है और उसका वर्णन संक्षेप में पहले ही हो चुका है। भाषा का आदर्श क्या होना चाहिये यह उन्होंने अपनी पुस्तक "हिन्दी भाषा"[3] में स्पष्ट किया है। भारतेन्दुजी ने "भाषाओं के तीन विभाग"[4] माने हैं। "घर में बोलने की भाषा, कविता की भाषा और लिखने की भाषा"। घर में बोलने की भाषा को उन्होंने कोई विशेष महत्व नहीं दिया। कविता की भाषा के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

"पश्चिमोत्तर देश के कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निर्णीत हो चुकी है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं, परंतु यह कह सकते हैं कि यह नियम अकबर के समय के पूर्व नहीं था क्योंकि, मुहम्मद मलिक जायसी और चन्द की कविता विलक्षण ही है और वैसे ही तुलसीदास जी ने भी ब्रजभाषा का नियम भंग कर दिया। जो हो मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा

---

१. भारत दुर्दशा, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ४९३

२. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ३९३

३. हिन्दी भाषा—भारतभूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र लिखित। म० कु० बाबू रामदीनसिंह द्वारा प्रकाशित। खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर सन् १८९० ।

४. हिन्दी भाषा, पृष्ठ १

ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती है।"[1]

भारतेन्दु ने बुन्देलखंड की बोली, नागभाषा, पञ्जाबी भाषा, नई पञ्जाबी, माड़वारी, उर्दू मिली प्राचीन कविता, तुलसीदास जी की कविता, बैसवारे की कविता, बंगभाषा की कविता और मैथिली की कविता के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि कविता के लिए सबसे उपयुक्त भाषा ब्रजभाषा ही है। वे नई भाषा की कविता का उदाहरण देते हुए लिखते हैं :

"भजन करौ श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध होयगा काम औ छूटैगा सब सोग॥

अब देखिए यह कैसी भोंड़ी कविता है मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती। आप लोगों को ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निस्संदेह ब्रजभाषा ही है और दूसरे भाषाओं को कविता इतना चित्त को नहीं पकड़ती[2]।"

इस प्रकार भारतेन्दु ने कविता की भाषा ब्रजभाषा ही मानी है। अब गद्य की भाषा पर विचार करना उचित है। वे गद्य की भाषा जिसे "लिखने की भाषा" का नाम दिया गया है, इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

"भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है कोई कहते हैं कि उर्दू शब्द मिलने चाहिए कोई कहता है संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा कभी निश्चित नहीं हो सकती। हम सब भाषाओं का नीचे उदाहरण लिखते हैं[3]।"

भारतेन्दु ने उदाहरण देने के लिए निम्न प्रकार की भाषाएँ चुनी हैं :

१—जिसमें संस्कृत के बहुत शब्द हैं।

२—जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।

३—जो शुद्ध हिन्दी है।

४—जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है।

---

१. हिन्दी भाषा, पृष्ठ २

२. वही, पृष्ठ ११

३. वही, पृष्ठ १२

५—जिसमें फ़ारसी शब्द विशेष हैं।

६—जिसमें अंगरेज़ी शब्द हिन्दी हो के मिल गए हैं।

७—जिसमें पुरबियों की बोली वा काशी की देश-भाषा है।

८—जो काशी के अर्ध शिक्षित बोलते हैं।

९—दक्षिण के लोगों की हिन्दी।

१०—बंगालियों की हिन्दी।

११—अँगरेज़ों की हिन्दी।

१२—रेलवे की हिन्दी।

इन भाषाओं के उदाहरण देकर भारतेन्दु लिखते हैं :

"हम इस स्थान पर वाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिए पर हाँ मुझसे कोई अनुमति पूछे तो मैं यह कहूँगा कि नंबर २ और ३ लिखने के योग्य हैं।[१]

भारतेन्दुजी द्वारा दिए हुए नं० २ और नं० ३ के उद्धरण इस प्रकार हैं :

नं० २—जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।

सब विदेशी लोग घर फिर आए, और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया, पुल टूट गए, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए, बहुत वृक्ष समेत फूल तोड़ गिराए, सर्प बिलों से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्रता स्त्रियों की भाँति उमड़ चली।

नं० ३—जो शुद्ध हिन्दी है।

पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फन्द में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहाँ तो वह प्यार की बातें कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा, मैं कहाँ जाऊँ, कैसे करूँ, मेरी तो ऐसी कोई मुँह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ, कुछ इधर-उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ।[२]

भारतेन्दु ने अधिकतर गद्य में नं० ३ वाली भाषा का ही प्रयोग किया है। 'चन्द्रावली नाटिका' में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। भाषा का यही रूप इंशा ने 'ठेठ हिंदी' कहा है जिसमें किसी बोली का 'पुट' नहीं है। "बाहर की बोली और

---

१. हिन्दी भाषा, पृष्ठ १९

२. वही, पृष्ठ १२

गँवारू कुछ उसके बीच में न हो, भले लोग अच्छों से अच्छा जैसा बोलते हैं डौल वही रहे छाँह किसी को न दे।”

इस प्रकार भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा का यह रूप निर्धारित किया। इसी भाषा में उन्होंने शैलियों की विभिन्नता से लगभग १७५ पुस्तकों की रचना की।

परिशिष्ट

भारतेन्दु ने गद्य का उदाहरण देने के लिए जितने प्रकार की भाषाएँ चुनी हैं उनमें से उनके आदर्शों के अनुसार दो प्रकार की भाषा-शैलियों के उदाहरण (नं० २ और नं० ३) लिखे जा चुके हैं। शेष नमूने उन्होंने इस प्रकार दिये हैं :

नं० १ जिसमें संस्कृत के बहुत शब्द हैं।

अहा, यह कैसी अपूर्व्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई है अनवर्त्त आकाश मेघाच्छन्न रहता है और चतुर्द्दिक कुभ्भटिका पात से नेत्र की गति स्तम्भित हो गई है प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भाँति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उड्डीयमाना होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है मयूरादि अनेक पक्षिगण प्रफुल्लित चित्त से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दुरगण भी पंकाभिषेक करके कुकवियों के भाँति कर्णबेधक ढक्काभकार सा भयानक शब्द करते हैं।

नं० ४ जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है।

ऐसी तो अँधेरी रात उसमें अकेली रहना कोई हाल पूछने वाला भी पास नहीं रह-रहकर जी घबड़ाता है कोई खबर लेने भी नहीं आता और न कोई इस विपत्ति में सहाय होकर जान बचाता।

नं० ५ जिसमें फ़ारसी शब्द विशेष हैं।

ख़ुदा इस आफ़त से जी बचाय प्यारे का मुँह जल्द दिखाए कि जान में जान आए। फिर वही ऐश की घड़ियाँ आएँ शबोरोज़ दिलबर की सुहबत रहे रंजोग़म दूर हो दिल मसरूर हो।

नं० ६ जिसमें अँग्रेज़ी शब्द हिन्दी हो के मिल गए हैं।

कलकत्ते की शोभा

वहाँ हौसों में हज़ारों बक्स माल रक्खे हैं कंपनियों के सैकड़ों बैग इधर से उधर कुली लोग लिये फिरते हैं लालटैन में गिलास चारों तरफ बल रहे हैं सड़क की लैन सीधी और चौड़ी है पालकी गाड़ी बग्गी चिरिट फिटिन दौड़ रही हैं रेलवे के स्टेशनों

पर टिकट बँट रहा है कोई फर्स्ट क्लास में बैठता है कोई सेकेंड में कोई थर्ड में बैठता है ट्रैन को इञ्जिन इधर से उधर खींच कर ले जाती है बड़े से छोटे तक उहदेदार जज मजिस्टर कलक्टर पोस्टमास्टर डिप्टी साहब स्टेशनमास्टर करनैल जरनैल कमानियर किरानी और कांसटेबल वगैरह चारों ओर घूम रहे हैं कोई कोट पहिने है कोई बूट पहिने है कोई पाकेट में लोट भरे है लाट साहिब भी इधर उधर आते जाते हैं डाँक दौड़ती है बोट तिरते हैं पादरी लोग गिरजों में क्रिस्तानों को बैबिल सुनाते हैं पंप में पानी दौड़ता है कंप में लंप रोशन हो रही है।

नं० ७ जिसमें पुरबियों की बोली या काशी की देश भाषा है।

क साहेब आप कब्बों कलकत्ता गये हौ की नाहीं? जो न गये हो तो एक बेर हमरे कहे से आप ऊ शहर के जरूर देखो देखही के लायक है। आप से हम ओ की तारीफ़ का करी अपने आँखों से देखे बिना ओ का मजै नहीं मिलता आप तो बहुत परदेश जाथौ एक बेर ओहरो झुक पड़ो।

नं० ८ जो काशी के अर्द्ध शिक्षित बोलते हैं।

महराज मैं सच कहता हौं कलकत्ता देखने ही के योग्य है आप देखियेगा तो खुस हो जाइयेगा हम एक दफे गए रहे सो ऐसा जी प्रसन्न हो गया कि क्या पूंछना है।

नं० ९ दक्षिण के लोगों की हिन्दी।

सो तो ठीक ही है कलकत्ते तो आप के एक बेर अवश्य जाना हमारे कूं तो ऐसा जान पड़ता है कि जावत् पृथ्वीतल में दूसरा ऐसा कोई नगर ही नहीं है।

नं० १० बंगालियों की हिन्दी।

सच है इधर राधा बाजार का बड़ा बड़ा दोकान है उधर मछुआ बाजार में बहुत अच्छा अच्छा समान है कहीं गाड़ी खड़ा है कहीं केली फला है कहीं गोरा की समाज की समाज आती है कहीं अमारा देश का बंगाली बाबू लोगों का पलटन जाती है कोम्पानी लोग दीवालिया होया जाता है कहीं मारवाड़ी माल लेकर घर पराता है।

नं० ११ अंगरेजों की हिन्दी।

बेशक इसमें कुछ शक नहीं कैलकटा देखने का जगह है हम वहाँ अकसर रहता आप एक बेर जाने मांगो वहाँ जाकर थोड़ा सबुर करो देखो बहुत लोग जाता तो आप घर में पड़ा पड़ा क्यों सड़ता जाओ जाओ हमारा कहने सें जाओ।

नं० १२ रेलवे की भाषा

इष्ट इन्डियन रेलवे

इस्तहार।

बाशिन्दा मौजे दोमिंगा जिला दुमका क़ौम डोम मोसम्मी मोहन तारी पेसर भैरव तारी उमर ४५ बरस क़रीब इष्टेशन साहबगञ्ज ट्रेन को रेल से गिरा देने के मतलब से रेल रास्ता का २२३ मील के उपर कोई अटकाव रखा था इस जुर्म के सबब गुजस्ता बतारीख १३ जुन को साहब शेशीयन जज बहादुर भागलपुर ने उसको दस बरस सख़्त क़ैद की सजा का हुकुम फरमाया।

ऊपर के लिखे हुए तारीख में बाशिन्दा मौजे दोमिंगा जिला दुमका कौम सॉवताल मोसम्मी बोयला पेसर पीरनी उमर ३० बरस मोहन तारी का साथी होकर रेल रास्ता का उसी मक़ाम पर एक ही वक़्त में उसी तरह का अटकाव रखने के जुरम में सख्त मिहनत से सात बरस क़ैद की सजा हुकुम हुआ।

ट्राफिक मनेजार का आफिस
जमालपुर १२ जुलाई १८८४ ई०

एन. सेण्ट. एल. कार्टर
ट्राफिक मनेजार।

राजा भोज और अंगरेज़ बहादुर
शिक्षा के प्रचार में कौन श्रेष्ठ है ?

४ मई, सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना कलकत्ते में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी जो छोटी आयु में ही इस देश में चले आते थे, न तो यहाँ की भाषा से परिचित रहते थे और न यहाँ के बौद्धिक और सामाजिक व्यवहारों को समझ सकते थे। अतः कम्पनी के कर्मचारियों के लिए आवश्यक समझा गया कि वे शासितों को समझकर उन पर अधिकार और नियन्त्रण रखने की शक्ति अर्जित करें। इसलिए यहाँ की भाषा में गति प्राप्त करने के लिए फ़ोर्ट विलियम कालेज में फ़ारसी और हिन्दुस्तानी विभाग खोला गया जिसके अध्यक्ष प्रसिद्ध चिकित्सक जान गिलक्राइस्ट रखे गए। कम्पनी के संरक्षण में चिकित्सक होने के नाते जान गिलक्राइस्ट को यों तो डाक्टर होना चाहिए था किंतु इसलिए कि हिन्दुस्तानी भाषा-भाषी स्थानों में रहकर उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा की जानकारी प्राप्त की थी, वे हिन्दुस्तानी विभाग की अध्यक्षता के योग्य समझे गए। रोमन और फ़ारसी लिपि में विश्वास रखने वाले, अरबी और फ़ारसी से आक्रान्त खड़ी बोली को ही (जिसे वे हिन्दुस्तानी कहते हैं) देश की शिष्ट भाषा समझने वाले एवं संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों से मिश्रित खड़ी बोली को (जिसे वे हिन्दवी कहते हैं) गवाँरू समझने वाले जान गिलक्राइस्ट ने वास्तव में हिन्दुस्तानी नाम से उर्दू का प्रचार किया। हिन्दी गद्य तो अपनी स्वाभाविक सुबोधता और संस्कृत के तत्सम और ब्रजभाषा में आए हुए तद्भव शब्दों की मधुरता से आगे बढ़ा है। लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' और सदलमिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' ये दोनों ग्रंथ केवल इसलिए फ़ोर्ट विलियम कालेज द्वारा पाठ्यग्रंथ मान लिए गए कि उनसे शिष्ट भाषा हिन्दुस्तानी को बल प्राप्त हो सकता था और उनसे शासितों की मनोवृत्ति और धार्मिक विश्वासों की अच्छी जानकारी हो सकती थी। यों सदलमिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' फ़ोर्ट विलियम कालेज के द्वारा अधिक सम्मान की दृष्टि से कभी देखा भी न गया। परिणामस्वरूप हिन्दी गद्य की सभी मान्यताओं को फ़ोर्ट विलियम कालेज ने सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। उसने फ़ारसी लिपि के प्रचार और फ़ारसी अरबी मय खड़ी बोली के निर्माण को ही अपनी नीति का स्तम्भ समझा। सन् १८२४ में पाठ्यक्रम में हिन्दी को अलग

स्थान अवश्य दिया गया लेकिन हिन्दी-गद्य-निर्माण की ओर उदासीनता ही रही। इस प्रकार फ़ोर्ट विलियम कालेज के द्वारा हिन्दी गद्य का हित होने के स्थान पर हानि ही हुई, इसे निर्विवाद समझ लेना चाहिए।

• फ़ोर्ट विलियम कालेज ने विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तकें लिखाने की एक परंपरा अवश्य चलाई। आगे चलकर शिक्षा-प्रचार की योजना में सन् १८१७ में 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी' और १८३३ में 'आगरा स्कूल बुक सोसाइटी' तथा अन्य सोसाइटियाँ स्थापित हुईं, जिनसे पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में विशेष सहायता मिली। इन पाठ्य पुस्तकों में हिन्दी गद्य का रूप किसी अंश में अवश्य उपस्थित किया गया किन्तु लेखकों की मनोवृत्ति सरकारी संरक्षण प्राप्त करने की अभिलाषा से दूषित हो चली। इन लेखकों में अपने देश, अपनी संस्कृति और अपने आदर्शों के प्रति श्रद्धा नहीं रही और वे अपने बड़े से बड़े प्राचीन पुरुषों के चरित्रों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। इस मनोवृत्ति का एक हास्यास्पद उदाहरण लीजिए। जुलाई सन् १८७५ ई० में मुंशी नवलकिशोर के लखनऊ स्थित यंत्रालय से एक पुस्तक भोज-प्रबंध-सार दूसरी बार छपी। इसके लेखक पंडित बंशीधर हैं। मुखपृष्ठ की भाषा इस प्रकार है :

भोज-प्रबंध-सार
श्रीमन् महाराजाधिराज पश्चिमदेशाधिकारी
श्रीयुत् नव्वाब लेफ्टिनेण्ट गवर्नर बहादुर की
आज्ञानुसार
श्रीयुत् विज्ञातिविज्ञ श्री साहब डैरेक्टर आफ़
पब्लिक इन्स्ट्रक्शन के सरिश्तह में
पंडित बंशीधर ने
संस्कृत भोज प्रबंध और उसके
अनुयायी ग्रंथों से संग्रह करके बनाया।

यह पुस्तक का पहला भाग है। इसमें ८१ पृष्ठ हैं। कथा-भाग मुंज के छल से प्रारंभ होता है। अंत में उसका पश्चात्ताप और राजा भोज का राज्याभिषेक, नीति का उपदेश, शिक्षा-प्रचार, राज्य की प्रबंध-पटुता और स्त्री-शिक्षा आदि विषयों पर घटना-क्रम से प्रकाश डाला गया है। स्थान-स्थान पर नीति के श्लोक और उनके भाषार्थ हिन्दी गद्य में दिए गए हैं। पुस्तक में राजा भोज और उनकी रानी लीलावती की विद्यानुरागिता लेखक ने अनेक स्थानों पर वर्णन की है। लेखक के ही शब्दों में ऐसे स्थल देखिए :

(१) "राजा ने अधिकारियों को ये हुक्म दिए·····मेरे नगर में जो जो मूर्ख हों वर्ष की अवधि में सब काम छोड़ पढ़कर कुछ कविता करने के योग्य हो जावें नहीं तो वर्ष के बाद निकाले जावेंगे और उनके मकान विदेशी पंडितों को जो यहाँ आवेंगे दिए जावेंगे।" (पृष्ठ २८)

(२) "राजा सवेरे ही उठकर शाला में जिसमें कि आप पढ़े थे गए। देखते ही सब सहपाठी बहुत प्रसन्न हुए। इन्होंने भी सभा का यथोचित सम्मान किया और वाचस्पति विद्यार्थी को जो सभों में मुख्य था उसे वहाँ की अध्यापकता का अधिकार देकर एक गाँव उसके भोजन-वस्त्र के लिए कर दिया और सदा दो सौ विद्यार्थी पढ़ने का हुक्म दिया। उन विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र भी सरकार से ही कर दिए। यह सुनकर मणि मिश्र ने राजा के पास आकर कहा महाराज! धन्य हैं आपको गद्दी पर बैठे हुए आज पाँचवाँ ही दिन है परन्तु आपके प्रताप से सारे नगर में सिवाय पढ़ने के दूसरी बात की चर्चा नहीं।" (पृष्ठ २९)

(३) "यह सुन भोज ने कहा मेरी इच्छा ऐसी है कि मेरे नगर में कोई मूर्ख न रहे। सब पढ़ पावैं।" (पृष्ठ २९)

(४) "राजा सब अपने सहपाठियों से बोले कि मुझे सारे नगर में तथा और जगह भी विद्या का प्रचार करना है इससे तुम सब को अच्छे अच्छे अधिकार पर नियत कर दूँगा। जीविका की कुछ शंका मत करना।" (पृष्ठ ३०)

(५) "यह बात सुन राजा भोज ने मणि मिश्र से कहा कि तुम अपनी शाला में दो सौ विद्यार्थी पढ़ाया करो। भोजन-वस्त्र के लिए एक गाँव सरकार से पाओगे और विद्याधरी का मन हो तो नगर में सौ लड़कियों के भी पढ़ाने के लिए एक पाठशाला नियत की जाय कि उसमें पढ़ाया करें। उसको भी एक गाँव मिलेगा तथा लड़कों की और भी दो शाला नगर में नियत होगी और आज ही उनमें पढ़ाने के लिए अध्यापक नियत हो जावेंगे। इस प्रकार चार शाला तो नगर के चारों कोने में और आपकी शाला के पास लड़कियों की शाला नियत हो जावेगी। यह सुन विद्याधरी ने पढ़ाने का स्वीकार कर लिया। राजा ने मणि मिश्र की शाला के पास पुत्री-शाला नियत की और अपने महलों में आकर स्नान, पूजन, भोजन किया।" (पृष्ठ ३१, ३२)

(६) "किसान के लड़के से इस श्लोक को सुन (राजा) बहुत प्रसन्न होकर मन में कहने लगे कि ईश्वर ने चाहा तो मेरे नगर में इसी तरह काछी, कुरमी, किसान सब लिखे पढ़े हो जावेंगे।" (पृष्ठ ४६)

(७) "यह सुनकर रानी लीलावती बहुत प्रसन्न हुई। आदर-सत्कार करके

विद्याधरी को सिंहासन में बैठाया और कहने लगी कि तुम विद्या लक्ष्मी के पढ़ाने में मेरी सहायक हो तो मैं थोड़े ही दिनों में हर एक स्त्री को विद्या में निपुण किया चाहती हूँ।......हर एक स्त्री इस तरह पढ़ानी चाहिए कि हर एक काम को जैसे मर्द करते हैं वे भी धीरज से कर लिया करें और घबराया न करें।" (पृष्ठ ६०)

• (८) "विद्याधरी हरी भरी हो गई कहने लगी......ईश्वर की कृपा से आज मेरी शाला में दो सौ विद्यार्थी पढ़ते हैं। वहाँ राजा आप जाते परीक्षा लेते और यथा-योग्य पारितोषिक देकर मान भी करते हैं।" (पृष्ठ ६०-६१)

(९) "ईश्वर ने चाहा तो ऐसा प्रबन्ध करूँ कि थोड़ी ही अवधि में आपकी शाला की लड़कियाँ लड़कों से भी विद्या में अधिक हो जावें और इस नगर की घर-घर की लड़कियाँ आप ही आप तुम्हारी शाला में आकर पढ़ें। इस बात को सुनकर विद्याधरी बहुत आनन्दित हुई और मदनमालिनी दासी को अपनी चेलियों से संस्कृत में बातें करती हुई देखकर रानी से पूछने लगी कि आपकी दासी ने कौन-कौन विद्या पढ़ी है? रानी ने कहा कि व्याकरण, न्याय, साहित्य इन विद्याओं में तो इसका अच्छा प्रवेश है पर और भी विद्याओं को थोड़ी जानती है। यह कल वा परसों तुम्हारी शाला में लड़कियों का पढ़ना देखने आवेगी और आज के आठवें दिन मैं भी आकर परीक्षा लूँगी।" (पृष्ठ ६१)

(१०) "इसके अनन्तर रानी लीलावती ने राजा को एक विनय-पत्र लिखा... ...मेरी राय में सारे नगर में इस बात का ढिंढोरा पिटवा दिया जावे कि..... नगर में पंडित हों उनकी तो क्या बात है तथा कम से कम जो वर्णमाला के अक्षरों को भी अच्छी तरह लिख-पढ़ लेते हों वे माथे पै चन्दन आदि से अपनी ज्ञाति के अनुसार टीका दिया करें पर जो कि मूर्ख हों सब खाली माथ रहें।

इसी तरह स्त्रियों को जो पढ़ी हों माथे में लीलावती आदि बिन्दी देवें और जो अनपढ़ी हों सूना माथ रक्खें तथा जो कोई मूर्ख होकर इन बातों को करे उससे बीस कौड़ी रोज़ दण्ड लिया जावे। उस दण्ड को गली का चौकीदार उगाहा करे और उस समय उनसे कह दिया करे कि तुमको दण्ड देना न हो किन्तु पंडित होना हो तो सरकारी शाला में जाकर पढ़ो। इस बात के जारी होने से लोग शर्मा कर आप ही आप पढ़ने लिखने लगेंगे। इति।" (पृष्ठ ६३-६४)

(११) "इसी प्रबन्ध के कारण लोग अपनी लड़कियों को आप ही आप ले आये और लाते जाते हैं यहाँ तक कि दो सौ लड़कियाँ तो इकट्ठी हो गईं।" (पृष्ठ ६७)

(१२) "विद्याधरी ने कहा—मेरे पास सौ लड़कियाँ पढ़ती हैं उनकी पचीस

पच्चीस की कक्षा है। दो कक्षाओं को दिन के पूर्व भाग में पढ़ाती हूँ दो को घर में तथा बीच में लिखना और काव्य-रचना भी सिखाती हूँ।" (पृष्ठ ६८)

(१३) "इसको सुन रानी जी बहुत प्रसन्न हुईं रात-दिन विद्या के प्रचार करने के बन्दोबस्त में रहने लगीं। शाला में जाने से एक दिन पहले उज्जैन नगरी में जो जो विद्यापात्र, कुलपात्र और धनपात्र थे उनकी स्त्रियों के नाम पुत्री-शाला में आने के लिए चिट्ठियाँ भेजीं। इनसे सारे नगर में लीलावती की पाठशाला में जाने का शुहरा पड़ गया।" (पृष्ठ ६९)

(१४) "इस तरह विद्याधरी को दिलासा देकर आप मणि मिश्र की शाला में गईं। वहाँ भी व्याकरण आदि विद्याओं में विद्यार्थियों से प्रश्न किये और दो सौ नये लड़कों का जो पढ़ने के लिए आए थे पुत्री-शाला की तरह प्रबंध कर दिया। इसी प्रकार और शालाएँ भी हो गईं।" (पृष्ठ ६९)

(१५) "रानी ने यह दशा देखकर हर एक को जो कि कुछ भी अक्षर सीख गए थे पारितोषिक दिया और जिन्होंने धन के अभिमान से कुछ भी अक्षर नहीं सीखे थे उनके लिए यह दण्ड ठहराया कि हर एक चौकीदार अपनी अपनी गली के ऐसे धनवान् मूर्खों को लेकर निरन्तर दो घण्टे गति अर्थात् बराबर टहलाने में रखे और १२ दिन में हर रोज चार-चार अक्षर सिखावे। जो कोई चौकीदार के कहने से न आवेगा एक महीने सरकारी कैदख़ाने में रहेगा। इस दण्ड के सुनते ही सब के कान हो गए और थोड़े ही दिनों में बारहखड़ी पूरी की। इस प्रकार राजा भोज और रानी लीलावती ने क्रम-क्रम से उज्जैन नगरी में विद्या का प्रचार किया और नाम पाया।"

(पृष्ठ ८१)

केवल एक नगरी उज्जैन में राजा भोज और उनकी रानी लीलावती की ओर से शिक्षा के प्रचार और प्रसार में इतनी सतर्कता और प्रबंध-पटुता लिखने पर भी लेखक पंडित बंशीधर ने जो पुस्तक की भूमिका लिखी है, वह ध्यान देने योग्य है :

"इस भरत खण्ड में बहुतेरे राजा बड़े-बड़े प्रतापी और बलवान हो गए प्रजा के पढ़ाने लिखाने की ओर कुछ दृष्टि न की। हाँ थोड़ा बहुत राजा भोज ऐसा हुआ कि जिसने प्रजा का पालन और विद्या की वृद्धि भी अच्छी की पर वह भी सब जगह अपने राज में एक सी विद्या न फैला सका......इतना ख़र्च करने पर भी ऐसा प्रबंध न कर सका कि नगर-नगर और गाँव-गाँव में शाला अर्थात् मकतब बैठा देता जैसा कि अब अँगरेज बहादुर ने लाखों रुपए ख़र्च कर ठौर ठौर बैठा दीं और उनमें पाठक और अधिपाठक नियत कर दिए हैं। ऐसा प्रबंध तो भोज आदि राजाओं से होना बहुत ही

कठिन था......अब इसलिए कि राजा और बादशाहों के अच्छे अच्छे इतिहासों का हिन्दी वा उर्दू में उल्था करवा कर प्रचार करने में जो साहिब डैरेक्टर आफ़ पब्लिक इन्स्ट्रेक्शन बहादुर उद्यत हैं उनकी आज्ञानुसार पंडित बंशीधर भोज-प्रबन्ध-सार का और बीच-बीच में सामयिक श्लोक लिखकर उनका भी उल्था हिन्दी में करके नीचे लिखता है।"

पुस्तक के अंत में लिखा है :

"आगे साहिब डैरेक्टर आफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन बहादुर की आज्ञा होगी तो दूसरा भाग भी बनेगा।"

भूमिका और अंतिम अवतरण से लेखक की मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। वास्तव में यह किसी भी साहित्य का दुर्भाग्य है कि उसका लेखक देश के ऐतिहासिक सत्य को भूलकर अपने सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आदर्शों के प्रतीक महापुरुषों के उज्ज्वल चरित्र को विदेशी शासन-कर्त्ताओं के समक्ष हीन और नगण्य माने तथा उनके संरक्षण की कामना करे।

हिन्दी के इतिहास में भी इस दुर्भाग्य की रेखा है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का आचार्यत्व

नवंबर सन् १९०२ में 'कुमारसंभव' के प्रथम पाँच सर्गों का अनुवाद कर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी पाठकों का ध्यान इसलिए आकर्षित किया था कि खड़ी बोली हिन्दी में भी कविता की जा सकती है और उसमें संस्कृत भाव-व्यंजना की उपयुक्त क्षमता भी उत्पन्न की जा सकती है। यद्यपि द्विवेदीजी की कविता "वही सुघरता सफल समझिए जो प्रियतम को सके लुभाय" [पंचम सर्ग] के शब्द-विन्यास से ऊपर नहीं उठ सकी और खड़ी बोली का सौष्ठव स्पष्ट नहीं हो सका, तथापि उनके प्रयास में खड़ी बोली कविता अपने निर्माण-पथ पर अग्रसर हो गई और इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने समकालीन खड़ी बोली गद्य को सशक्त बनाकर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की थी उसी प्रकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली की परुष कही जाने वाली शब्दावली में कविता की पंक्तियाँ लिख-कर उसमें संगीत की शक्ति प्रेरित की। गद्य और पद्य में नवीन उन्मेष उत्पन्न करने वाले भारतेन्दु और महावीरप्रसाद हिन्दी साहित्य के दो कर्मयोगी थे जिन्होंने परिश्रम और अध्यवसाय से खड़ी बोली साहित्य को शक्ति-सम्पन्न बनाया। खड़ी बोली कविता में उन्मेष द्विवेदीजी के कार्य-काल से ही प्रारंभ होता है। इसी उन्मेष में हिन्दी के राष्ट्रीय कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविता की रूप-रेखा निर्मित हुई।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पादन-कार्य उन्हें गद्य के निकटतम सम्पर्क में ला सकने में समर्थ हुआ। भारतेन्दु के व्यवस्थित किए हुए गद्य में ऐसे कितने ही अभाव थे जो गंभीर साहित्य के प्रणयन में अवरोधक थे। कहानी और नाटक का गद्य भारतेन्दुजी निर्मित कर सके, वैज्ञानिक निबन्ध और सम्पत्ति-शास्त्र का गद्य उनके पास नहीं था। उनके गद्य में हृदय है, मस्तिष्क नहीं। इसकी पूर्ति करने के लिए एक वैयाकरण की आवश्यकता थी। और जब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत व्याकरण का ज्ञान लेकर 'सरस्वती' का सम्पादन करने में सन्नद्ध हुए तो गद्य का रूपान्तर ही हो गया और उसे वह दृढ़ता प्राप्त हुई जो साहित्य के गंभीर विचारों का भार सहन करने में समर्थ हुई। भाषा को परिमार्जित और शुद्ध करने के संकल्प में 'सरस्वती'-सम्पादक की जो साधना छिपी हुई है उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। गद्य में शब्दों का उपयुक्त चयन भाव-व्यंजना में अधिक सहायक होता है और उसे एक विशेष नाद से समन्वित करता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विचारों का आधार लेते हुए पं० गणेश सदाशिव लेले ने

मराठी में साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा। उसके एक अंश को "शब्दार्थ विचार" शीर्षक से प्रश्नोत्तर के रूप में लिखकर सन् १६०६ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य के शब्दार्थों की ओर पाठकों और लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। प्रारम्भ में उन्होंने जो लेख लिखे उनमें लेखकों, सम्पादकों और पुस्तक-प्रकाशकों के उत्तरदायित्व की भावना ही भरी हुई थी। सन् १६०४ से १६१० तक के उनके अधिकांश लेख भाषा के परिमार्जन की ओर ही ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखे गए थे। गणेशदत्त और देवदत्त के वार्तालाप में अथवा प्रश्नोत्तर के रूप में शब्द और अर्थ को विकृत करने वाले लेखकों का उन्होंने यथेष्ट तिरस्कार किया था और शिष्ट भाषा में दुर्वचन तक कहे थे। इसीसे ज्ञात होता है कि द्विवेदीजी भाषा का परिष्कार करने में कितने उग्र थे। भाषा के प्रति किसी प्रकार की भी उपेक्षा सहन करने में वे एकान्त असमर्थ थे। उनका यह कठोर अनुशासन ही भाषा का शुद्ध रूप निर्धारित करने में समर्थ हो सका। यही उनके सम्पादन का सब से बड़ा कार्य था जिसमें वे जितने संयमी थे, उतने ही निष्ठुर।

भाषा को साहित्य के उपयुक्त बनाने में केवल शब्दों की रुचि परिष्कृत करना ही यथेष्ट नहीं है, उसे भावों से सम्पन्न करने का यत्न भी होना चाहिए। अंगरेज़ी, मराठी, गुजराती और बंगाली साहित्य के विविध भावों को हिन्दी में रूपान्तरित करने की चेष्टा द्विवेदीजी की ओर से जितनी अधिक हुई उतनी हिन्दी के किसी सम्पादक से नहीं हो सकी। भाव-जगत् की विस्तृत परिधि से परिचय कराने के प्रयास में द्विवेदीजी ने भिन्न साहित्य-विषयक अनेक लेख हिन्दी-भाषा-भाषियों को दिए। उन्होंने जो लेख लिखे उनमें से बहुतों में "हिन्दी के सिवा कई अन्य भाषाओं के साहित्य सम्बन्धी विचारों की भी पुट है।" इसीलिए द्विवेदीजी के लेखों का विस्तार मुक्त रूप से अनेक विषयों में है। साहित्य का साधारण ज्ञान जिस-जिस स्थान से—जिस-जिस भाषा से—उन्हें मिला उन्होंने हिन्दी-जगत् के सामने बड़े मनोरंजक ढंग से रक्खा। हिन्दी लेखकों को वे केवल भाषा-विषयक शुद्ध ज्ञान से ही परिचित नहीं कराना चाहते थे, वे उन्हें अपने अधिकारों से भी अवगत करा देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सन् १६१३ में 'नया कापी राइट एक्ट' नामक लेख लिखा जिसके प्रारम्भ में उन्होंने अपने इसी भाव का संकेत किया है—"इस क़ानून का घनिष्ट सम्बन्ध पुस्तकों के लेखकों और प्रकाशकों से है और उसका जानना उनके लिए बहुत आवश्यक भी है। अतएव उसका सारांश लिखना हम यहाँ पर उचित समझते हैं।" इस प्रकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-जगत् के ज्ञान का परिवर्धन और परिष्करण करते हुए जिस उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का परिचय दिया उससे वे साहित्य के इतिहास में निस्सन्देह आचार्य माने जायँगे।

प्रसादजी का 'आँसू'

'आँसू' हिन्दी साहित्य की एक अमर कृति है। कविवर प्रसाद का सब से अच्छा काव्य 'कामायनी' है जिसमें उन्होंने जीवन की गहराई में पहुँचकर सुख-दुःख की अलग-अलग सीमाएँ पहचानी हैं किन्तु उनके गीतिकाव्य 'आँसू' में दुःख की एक ऐसी रेखा है जो अपनी अभिव्यक्ति में जी हलका करते हुए सुख के द्वार तक जा पहुँचती है। 'कामायनी' में सुख और दुःख इन्द्रधनुष के रंगों की तरह अलग-अलग हैं! 'आँसू' में प्रारंभ का दारुण दुःख और अन्त का अभिव्यक्ति-जनित सुख संध्या के श्याम बादलों की अरुण कोरों की तरह मिला हुआ है। साथ ही संध्या का धुँधलापन भी उसमें विषाद का रूप लेकर घिर उठा है। यदि 'कामायनी' में एक तपस्वी की साधना है तो 'आँसू' में एक विरही की आत्म-कथा है जो सर्वजनीनता के दृष्टिकोण से प्रत्येक मानव के हृदय से गूँजकर निकल सकती है और इसीलिए प्रसाद के ग्रन्थों में वह सब से अधिक लोकप्रिय भी है।

'आँसू' एक विरह-काव्य है जैसे कवि रामगिरि के यक्ष का हृदय लेकर महाकवि कालिदास के स्वरों में अपनी विरह-वेदना किसी 'छलना' के पास भेज रहा है। इस वेदना के मनोवैज्ञानिक आधार के संबंध में हिन्दी आलोचकों के अलग-अलग मत हैं। कोई यह आधार भौतिक जगत् के नारी-सौन्दर्य को मानते हैं और कोई इसे दिव्य और अलौकिक सत्ता से जोड़ते हैं। मेरी समझ में 'आँसू' का आलम्बन इन दोनों आधारों से भिन्न है। यदि सारी कविता को ध्यान से पढ़ा जाय तो इस काव्य में कसकती हुई वेदना का आधार सत्य की सूक्ष्म भावना है जिसके सहारे यह विश्व अपने रूप में स्थिर है तथा जिसके अभाव में वह छल, प्रवंचना, आडम्बर तथा पाखंड से कलुषित हो जाता है। 'आँसू' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :

मुख शशि पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए

'जीवन की गोधूली में' जो आया क्या वह अपने 'मुख-शशि पर घूँघट' डाल कर आया? और क्या वह अपने 'अंचल में दीप छिपाए' हुए था? उस पुरुष को आप क्या कहेंगे जो

अपने वस्त्र-विन्यास में घूँघट और अंचल को स्थान देता है ? हमारे परीक्षार्थियों के सामने परीक्षा की 'गोधूली' में ये पंक्तियाँ भी 'कौतूहल सी आईं' । इन पंक्तियों में आने वाला पुरुष है या स्त्री या दोनों ? मेरी दृष्टि में वह दोनों रूपों में है यदि हम उसे 'सत्य' मान लें । इस संसार में 'सत्य' अनेक रूपों में आता है, कभी वह कोमल रूप धारण करता है, कभी परुष, कभी सत्य का कौतूहल पुरुष में प्रकट होता है कभी स्त्री में, इसलिए वह दोनों में ही है और दोनों रूपों में आता है । जीवन की समाप्ति होते-होते 'जीवन की गोधूली' में 'सत्य' का कौतूहल विचित्र रूप से आँखों के सामने आ जाया करता है ।

जीवन के प्रारंभिक काल में कवि ने जगत् को सुख और संतोष से परिपूर्ण समझा था । हमारे कवि प्रसाद भविष्यद्दृष्टा थे । उनकी प्रेरणा से हिन्दी में मित्रवर 'अंचल' जी तो हैं, भविष्य में कोई सज्जन 'घूँघट' जी भी हो जायँगे; किन्तु ज्यों-ज्यों कवि की चेतना विकसित होती जाती है वह देखता है कि आडम्बरपूर्ण मानव-व्यवहारों के कारण संसार यंत्रणाओं का आगार है । वास्तविक संसार में सत्य की भावना की अवहेलना देख कर कवि का अंतःकरण चीत्कार कर उठता है और उसकी वेदना शत-शत धाराओं में फूट निकलती है । उसकी निराशा का मर्मस्पर्शी चित्र 'बुलबुले सिन्धु के फूटे' में व्यक्त हो जाता है ।

'आँसू' के विरह की सब से बड़ी विशेषता उसका कल्याण-विधायक रूप है । 'आँसू' हमें निराशाभरी वेदना से व्याकुल करके अकर्मण्य नहीं बनाता वह जीवन में रूप को निखारने का संदेश देता है । कवि वेदना को मानव-जीवन के विकास में प्रकाश-मंदिर का सोपान समझता है । वेदना की अन्तर्ज्वाला जीवन को प्रकाश देती है । कविवर पंत के अनुभव की भाँति 'सुख-दुख की आँखमिचौनी, जीवन खोले अपना मुख' की भाँति प्रसादजी की भी जीवन-वेदी पर सुख-दुःख दोनों समर्पित होते हैं । इस विषय में एक बात ध्यान देने की है कि कवि जीवन के लहराते हुए सागर में स्थिरता सुख के दिनों की विस्मृति के सहारे प्राप्त करता है, न कि आत्मज्ञान के बल पर । 'चेतना लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा ।' प्रसादजी दुःखों की ओषधि प्रायः विस्मृति में पाते हैं । 'कामायनी' का नायक विक्षुब्ध मनु भी कह उठता है :

विस्मृति आ अवसाद घेर ले

यह विस्मृति सिर्फ़ बेहोशी है, आत्मा की मस्ती को उभारनेवाला आनन्द नहीं ।

फिर भी 'आँसू' एक उच्च कोटि का गीतिकाव्य है । इसमें भावना की एकरूपता, अनुभूति की तीव्रता तथा मधुर संगीत आदि—गीतिकाव्य के अनेक गुण—पाये जाते हैं । इसके भाव तथा कला दोनों ही पक्ष सम्हले हुए हैं । कहीं-कहीं कल्पना की

उड़ान और भावों के उभार में कवि ने शब्दों के व्याकरणसम्मत रूप पर ध्यान नहीं दिया है जिससे वाक्य-रचना में कुछ शिथिलता तथा अर्थ में उलझन आ गई है। 'छिल-छिल कर छाले फोड़े' वाला पद्य इस दोष का उदाहरण है किन्तु महाकवियों ने कब व्याकरण की चिन्ता की है? वे व्याकरण के पीछे नहीं चलते, व्याकरण उनके पीछे चलता है।

आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में 'आँसू' एक अमर कृति है।

उपन्यास और समाज-सुधार

साहित्य में उपन्यास ही एक ऐसा अंग है जिसने समाज से अपना सम्बन्ध बहुत गहरे रूप में रक्खा है। उसका कारण यह है कि उपन्यास में जीवन का रूप बहुत सी ऐसी मनोरंजक घटनाओं से बनता है जो सरलता से मन को अपनी ओर खींच लेती हैं और हम बिना किसी अड़चन के जीवन की भाँति-भाँति की गतियाँ से परिचित हो जाते हैं। यही कारण है कि कहानी और उपन्यास सामाजिक साहित्य में अपना ख़ास स्थान रखते हैं और उनके द्वारा हम किसी भी समाज का चित्र बड़ी सरलता से पा सकते हैं। उपन्यास में जिन घटनाओं और चरित्रों की रूप-रेखा खींची जाती है, उन्हीं घटनाओं और चरित्रों से हम समाज के आहार-व्यवहार, रीति-रस्म और रहन-सहन का पूरा पता पा लेते हैं। उदाहरण के लिए हम समाज का अधिक से अधिक बोलता हुआ चित्र रूसी उपन्यासों में पा सकते हैं। चेख़ाव, मैक्सिम गोर्की, डोस्टो-एवस्की, तुर्गनेव, टालस्टाय आदि ऐसे कहानीकार और उपन्यासकार हुए हैं जिन्होंने पद-पद पर समाज की परिस्थितियों के चित्र खींचे हैं, और हमें बुराइयों और अत्याचारों की जलती हुई ज्वाला से खींचकर शांति के सरोवर तक पहुँचाया है। इसलिए कि हमारा समाज पश्चिम के समाजों से भिन्न है, हमें अपने समाज के चित्रों के लिए, इस देश की भाषा में लिखे गये उपन्यासों पर ही विचार करना चाहिए। इस विचार को सामने रखते हुए हम इस समय बंगाली, गुजराती और हिन्दी उपन्यासों पर ही अपनी नज़र डालेंगे।

हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या हम उपन्यासों को ऐसा रूप दें कि वे हमारे साहित्य के कलात्मक रूप को छोड़कर एक ऐसी ज़िम्मेदारी उठा लें कि समाज के हर एक वर्ग की आलोचना करते हुए हम उसे कभी तो स्वर्ग का हिस्सा मान लें और कभी उसमें नर्क की दुर्गन्धि समझकर उसका तिरस्कार करें? क्या उपन्यास मनु की स्मृति बन जाय अथवा समाज के बाग़ का हर एक फूल और कली उसकी उँगली के संकेत से खिले या मुरझाकर गिर जाय? आपने यह भी देखा होगा कि कली की पँखुड़ियों को आप अगर उँगलियों से खोलने की कोशिश करेंगे तो उनमें न तो वह खिला हुआ रूप मिलेगा और न उनमें से सुगंधि ही फूट सकेगी। स्वाभाविक रूप से जब कली फूल में विकसित होगी तभी उसमें ताज़गी और ख़ूबसूरती आ सकेगी। क्या उपन्यास कली को जबरदस्ती खिलाने की उँगली बन जाय? हमने अपने साहित्य में 'उग्र' के उपन्यासों को पढ़ा

है और उन्होंने समाज के दुराचारों को मिटाने के लिए अपनी उँगली को भाले की नोंक की तरह पैनी बनाया है। उससे कली खिलने के बजाय अपनी पँखुड़ियाँ भी खो बैठी है और हमारे हाथ समाज की बुराइयों का सूखा डंठल ही रह गया है। सुगंधि के बदले उसमें से हमें कच्ची दुर्गंधि मिली है और हम एक बार ही कह उठे हैं—ऐसे उपन्यासों की हमें ज़रूरत नहीं है जिनसे समाज बनने के बजाय और भी बिगड़ जाय।

२

लेकिन इस सवाल को हम यों ही नहीं छोड़ देना चाहते। हम इसके अंदर तक पहुँचना चाहते हैं। हम उपन्यास को ऐसा रूप तो देना चाहते हैं कि उसके समाप्त होते होते हमारे सामने ज़िन्दगी का ऐसा पृष्ठ खुल जाय कि हम एकबारगी चौंककर कह सकें कि हमारे समाज में ऐसी बातें नहीं होनी चाहिए, लेकिन हमें यह न मालूम होना चाहिए कि यह बातें स्कूलमास्टर ने हमें क्लास में 'ब्लैकबोर्ड' पर लिखकर समझाई हैं और हमें उसे दूसरे रोज़ अपनी नोटबुक में साफ़ साफ़ लिखकर मास्टर साहब को दिखलाना है। समाज के सुधार और विकास की भावना ऐसी स्वाभाविक होनी चाहिए जैसे किसी भारी चीज़ के गिरने से हमारी पलक आप से आप झपक जाती है। हम कोशिश नहीं करते कि इस भारी चीज़ के गिरने से हमें अपनी आँखें बंद करनी चाहिये यद्यपि हम जानते हैं कि चीज़ के गिरने की आवाज़ से हमारी आँखों को चोट नहीं पहुँच सकती। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम आदर्श और यथार्थ का ऐसा मिलाप दिखलावें कि दोनों में से कोई भी अपने प्रभाव में कम न होने पावे। दाहिने और बाएँ हाथ की तरह आदर्श और यथार्थ किसी चीज़ को उठाने की कोशिश करें और अपनी इच्छानुसार घटनाओं को सुलझाने के लिए एक हाथ से दूसरे हाथ की अपेक्षा कम या अधिक ज़ोर लगावें। दोनों का मेल कहानी या उपन्यास-लेखक की चुनी हुई घटनाओं के उठने और गिरने पर छोड़ देना चाहिये और उसे अपने उपन्यास के अन्त को ऐसा रूप देना चाहिये कि हममें यह समझने की इच्छा स्वयं होने लगे कि यह परिणाम ठीक है और यह परिणाम ठीक नहीं है। समाज की कठिनाइयों को हल करने के लिए उपन्यास-लेखकों ने वैसी ही कठिनाइयों की कल्पना कर अपने उपन्यासों में घटनाओं का रूप सजाया है। उदाहरण के लिए हम मुख्यतः अपने देश की तीन भाषाओं के तीन प्रमुख उपन्यास-लेखकों को लेते हैं—बंगाली भाषा के विश्वकवि और उपन्यासकार श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर, गुजराती भाषा के उपन्यास-लेखक श्री कन्हैयालाल एम्० मुंशी और हिन्दी साहित्य के उपन्यासकार श्री प्रेमचन्द। यों तो देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के बहुत से उपन्यासकारों की रचनाओं से समाज-सुधार के आदर्श के प्रमाण दिए जा

सकते हैं लेकिन हम इस थोड़े से समय में इन्हीं तीन प्रमुख लेखकों की रचनाओं पर नज़र डालेंगे।

३

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समाज-सुधार की ओर अपने उपन्यासों की शक्ति खड़ी की है। मैंने अंग्रेज़ी में उनका एक उपन्यास पढ़ा है, 'ब्रोकन टाईज़'।

इस उपन्यास में उन्होंने समाज के तीन चित्र प्रस्तुत किए हैं। एक चित्र जगमोहन के सामाजिक और नैतिक आदर्श से बना हुआ है जिसमें ईश्वर पर कोई विश्वास नहीं है। चमार के साथ भाई-भाई सा बर्ताव करना आवश्यक है और गर्भवती कुमारी कन्या नीनी को जाति-पाँति का भेद न रखकर अपने घर में आश्रय देने का आदर्श है। दूसरा चित्र लीलानन्द स्वामी का है जिन्होंने समस्त संसार को माया के रूप में समझ लिया है। इन दोनों चित्रों से परे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने समाज के सामने एक तीसरा चित्र इस प्रकार रक्खा है जो अधिक व्यावहारिक है, जिसमें गृहस्थाश्रम का पालन करने के लिए श्रीविलास दामिनी से विवाह करता है और एक सात्विक और लौकिक जीवन व्यतीत करता है। उपन्यास के बीच-बीच में श्री रवीन्द्रनाथ ने समाज पर बड़ी गहरी चोट की है। आपके मनोरञ्जन के लिए मैं उनके कुछ अवतरण हिन्दी में अनुवाद कर सुनाता हूँ :

'दामिनी ने सतीश से कहा—सच कहो, दुनिया की भलाई की वह कौन सी बात है जिसके लिए तुम्हारा संप्रदाय रात-दिन व्यस्त रहता है ? तुमने किसकी रक्षा की है... यह आवेश, आवेश, आवेश जिसका राग तुम गा रहे हो उसे क्या तुमने असली रूप में नहीं देखा ? उसमें न धर्म है, न कर्तव्य। उसके सामने न स्त्री है, न भाई और न घर की पवित्रता, उसमें न दया है, न विश्वास, न नम्रता है और न लज्जा। इस क्रूर, बेशर्म और आत्मा को नाश कर देने वाले आवेश के नर्क से मनुष्यों को बचाने के लिए तुमने कौनसा रास्ता खोज रखा है। मैंने तुम्हारे गुरुओं से कुछ नहीं सीखा। उन्होंने मुझे एक क्षण की भी शान्ति नहीं दी। आग आग को नहीं बुझा सकती। जिस रास्ते से वह अपने भक्तों को ले जा रहा है उसमें न उत्साह मिलता है, न संयम और न शान्ति। वह ग़रीब स्त्री जो मर गई है, उसके हृदय का ख़ून इसी क्रोध और आवेश ने पिया है जिसने उसे मार डाला। ईश्वर के लिए, मेरे स्वामी, मैं प्रार्थना करती हूँ मुझे इस आवेश पर बलि-दान न कर दो। आह, मुझे बचाओ ! यदि कोई भी मुझे बचा सकता है तो वह तुम हो !'

इसी उपन्यास में एक बड़ी सुन्दर बात श्री रवीन्द्रनाथ ने लिखी है। आजकल की लड़कियाँ जब विवाहिता होकर ससुराल जाती हैं तो वे अपने हाथ से घर का काम

काज करने में अपना अपमान समझती हैं। वे इसे शायद फ़ैशन के ख़िलाफ़ समझती हैं। घर में चार नौकर होना ही चाहिए। यदि नौकर नहीं है तो घर की स्त्री को इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उसका पति अपने काम पर भूखा ही जा रहा है। इस बात को उपन्यासकार ने बड़े कुशल ढंग से लिखा है। श्रीविलास ने अपनी कथा कहते हुए लिखा है : 'दामिनी से बिना पूछे हुए मैंने एक रसोइया और दो नौकर नियुक्त किए। दामिनी ने दूसरे ही दिन मुझसे बिना पूछे उन दोनों को रुख़सत किया। जब मैंने विरोध किया, उसने मुझे बतला दिया कि मैंने उसके बारे में कितना ग़लत ख़याल किया था। उसने कहा : अगर मुझे मेरे हिस्से का काम नहीं करने दिया जायेगा जब तुम ग़ुलाम की तरह काम करते हो, तब मैं अपनी शर्म कहाँ छिपाती फिरूँगी!' अपने व्यक्तित्व की मर्यादा और ज़िम्मेदारी से भरी हुई ये बातें उपन्यासकार ने बहुत सरल ढंग से हमारे सामने रक्खी हैं।

४

श्री कन्हैयालाल मुंशी ने समाज की पेंचीदी समस्याओं पर बड़ी निडरता के साथ अपने विचार प्रकट किए हैं। अपने उपन्यास 'वेरनी वसूलात' में बदला लेने की भावना को उन्होंने अनेक रूपों में रक्खा। अत्याचारी रघुजीभाई ने जो गुणवन्ती पर अत्याचार किया उसी के परिणाम-स्वरूप तो कहीं उसे लकवा नहीं मार गया और रत्नगढ़ के दीवान होने के उसके सारे स्वप्न तो भंग नहीं हो गए? किन्तु उपन्यास के आदर्श की पूर्ति इसमें मनुष्यत्व के भाव से अधिक होती है। गुणवन्ती का पुत्र जगत अपनी माता पर अत्याचार करने वाले रघुजीभाई के वैर का प्रतिशोध यदि चाहता तो उसकी पुत्री रमा पर अंगार बरसाकर ले सकता था, लेकिन लेखक ने जगत को अधिक मानवता प्रदान की है और वह इस वैर को जीवन के सरस सिद्धान्त प्रेम से परिवर्तित करता है और रमा से विवाह कर लेता है। इस विवाह का क्या सिद्धान्त है यह जगत के शब्दों में ही सुनिए—'इतने दिनों से हम लोग स्वार्थ को ही वैराग्य और योग समझते आ रहे हैं। संन्यासी होकर हम लोग जनता को भूल जायँगे और जनता हमें। पुराने दिन अब नहीं रहे। पाश्चात्य देशों में सरस जीवन व्यतीत करनेवाले क्रोमवेल, वाशिंगटन और मेजिनी बहुत अंशों में पक्के योगी हो गए हैं। वही सिद्धान्त हमें अपने यहाँ की जनता को बतलाना है। भरत के त्याग और भीष्म की भीषणता का पालन सपरिवार रहकर भी हो सकता है। इसलिए मुझे ऐसी स्त्री नहीं चाहिए जो प्रेयसी बनकर मुझे धर्म-पालन से रोके बल्कि ऐसी स्त्री चाहिए जो मुझे धर्म-युद्ध में आहत देखे तो अङ्क में लेकर अञ्चल से हवा करे!' इस अवतरण में श्री मुन्शी ने केवल मनुष्य-जीवन के आदर्श की ओर इशारा ही नहीं किया बल्कि उन्होंने स्त्री के कर्तव्य की ओर भी संकेत किया है।

उपन्यास और समाज-सुधार

५

अब श्री प्रेमचन्द को लीजिए : प्रेमचन्दजी के प्रायः सभी उपन्यासों में समाज अपने असली रूप को पहिचानने की कोशिश करता है और आगे बढ़ता है। प्रेमचन्द का समाज बहुत सी बुराइयों से भरा है। वे सबसे पहले दो-तीन घटनाएँ इस प्रकार की सामने लाते हैं कि उपन्यास के प्रायः सभी पात्र उन बुराइयों से कष्ट उठाते हैं और, बाद में लेखक अपने 'हीरो' अथवा किसी दूसरे सद्गुण-सम्पन्न पात्र से एक नए समाज की कल्पना कराता है। हम उनके उपन्यासों में इस विषय का एक बहुत सफल उपन्यास लेते हैं उसका नाम है 'कर्मभूमि'। अमरकान्त एक ऐसा 'कैरेक्टर' है जो प्रत्येक क्षेत्र में एक क्रान्ति चाहता है। उसे अपने पिता का व्यापार करना अच्छा नहीं लगता जिसमें वह चोरी का माल सस्ते दामों में ख़रीद कर पैसा इकट्ठा करता है। जब काले ख़ाँ के कड़े अमरकान्त लेने से इन्कार कर देता है और समरकान्त उससे धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं तब अमरकान्त जिस निडरता से धर्म की परिभाषा करता है, उसे सुनिए :

'लालाजी की मुद्रा कठोर हो गई। 'फिर भी तुमने लौटा दिए ?'

'और क्या करता ! मैं तो उसे सेंत में भी न लेता। ऐसा रोज़गार करना मैं पाप समझता हूँ।'

समरकान्त क्रोध से विकृत होकर बोले—'चुप भी रहो। शरमाते तो नहीं ऊपर से बातें बनाते हो ? १५० बैठे बिठाए मिलते थे वह तुमने धर्म के घमंड में खो दिए उस पर से अकड़ते हो। जानते भी हो धर्म क्या चीज़ है ? साल में एक बार भी गंगा-स्नान करते हो ? एक बार भी देवताओं को जल चढ़ाते हो ? कभी राम का नाम लिया है ? ज़िन्दगी में कभी एकादशी या कोई दूसरा व्रत रखा है ? कभी कथा-पुराण पढ़ते या सुनते हो ? तुम क्या जानो धर्म किसे कहते हैं ! धर्म और चीज है, रोज़गार और चीज़। छिः साफ़ १५० फेंक दिए हैं।'

अमरकान्त धर्म की इस व्याख्या पर मन ही मन हँसकर बोला—'आप गंगा-स्नान, पूजा-पाठ को मुख्य धर्म समझते हैं, मैं सच्चाई, सेवा और परोपकार को मुख्य धर्म समझता हूँ। स्नान, ध्यान, पूजा, व्रत धर्म के साधन मात्र हैं धर्म नहीं।'

यहाँ ज्ञात होता है जैसे स्वयं प्रेमचन्दजी अमरकान्त के कंठ में बैठकर धर्म की व्याख्या कर रहे हैं। प्रेमचन्दजी का एक प्रिय विषय और है। वह है, अछूतोद्धार। इस विषय पर भी प्रेमचन्दजी ने 'कर्मभूमि' में एक घटना रख दी है। अछूतों को मंदिरों में दर्शन करने का अधिकार नहीं है। यह रुढ़ि प्रेमचन्दजी सहन नहीं कर सकते थे। इस रुढ़ि को

तोड़ने में प्रेमचन्दजी ने आत्म-बलिदान का बड़ा सुन्दर आदर्श सामने रक्खा है। जब मन्दिर में भगवान के दर्शन करने के लिए अछूत इकट्ठे होते हैं तो पंडितों और मोटे-मोटे धर्मशास्त्रियों को यह बात सहन नहीं होती। लाला समरकान्त भी यह नहीं चाहते और जब नैना सुखदा से कहती है, 'उन अछूतों को मन्दिर से हटाने के लिए पुलीस ने जो गोली चलाई है वह दादा यानी समरकान्त के कहने से ही चलाई गई है' तो अमरकान्त की स्त्री सुखदा लाला समरकान्त के सामने जाकर कहती है:

'क्यों लालाजी, रक्त की नदी बह जाय पर मन्दिर का द्वार नहीं खुलेगा' तब समरकान्त उत्तर देते हैं, 'क्या कहती है बहू, इन डोम चमारों को मन्दिर में घुसने दूँ? तू तो अमरकान्त से भी दो हाथ आगे बढ़ी जाती है! जिसके हाथ का पानी नहीं पी सकते उसे मन्दिर में कैसे जाने दें?' इस पर सुखदा उत्सर्ग के रूप में उबल पड़ती है। वह भागकर मन्दिर पहुँचती है और पुलीस की गोलियों के सामने खड़ी हो जाती है। गोली सुखदा के पास से निकल जाती है किन्तु साथ के कुछ आदमी घायल हो जाते हैं और कुछ मर जाते हैं। इस बलिदान से लोगों का उत्साह और भी बढ़ जाता है और अन्त में समरकान्त को पुलीस हटवा लेनी पड़ती है। वे सुखदा के पास आकर ऊँचे स्वर में बोलते हैं: 'मन्दिर खुल गया है, जिसका जी चाहे दर्शन करने जा सकता है, किसी के लिए रोकटोक नहीं है।'

अछूतोद्धार का यह प्रश्न हमारे देश में बहुत पेचीदा है और प्रेमचन्दजी ने उस पर अपने बहुत सुलझे हुए विचार प्रकट किए हैं। जब ब्रह्मचारीजी कहते हैं,'तुम तो बाबूजी, अंधेर करते हो! सासतर में कहाँ लिखा है कि अंत्यजों को मन्दिर में आने दिया जाय' तब प्रेमचन्दजी जैसे शान्तिकुमार के शब्दों ही में कहते हैं: 'कहीं नहीं, शास्त्र में यह लिखा है कि घी में चर्बी मिलाकर बेचो, टेनी मारो, रिश्वतें खाओ, आँखों में धूल झोंको और जो तुमसे बलवान हैं उनके चरण धो-धोकर पियो, चाहे वह शास्त्र को पैरों से ठुकराते हों। तुम्हारे शास्त्र में यह लिखा है तो यह करो, हमारे शास्त्र में तो यह लिखा है कि भगवान की दृष्टि में न कोई छोटा है, न कोई बड़ा, न कोई शुद्ध है और न अशुद्ध। उनकी गोद सबके लिए खुली हुई है।'

इस चित्रण में प्रेमचन्दजी पर देश के आन्दोलन का भी काफ़ी प्रभाव पड़ा है। इसी तरह उन्होंने 'गोदान' उपन्यास में किसानों की समस्या सुलझाई है, 'सेवासदन' में पथभ्रष्ट-युवती की और 'ग़बन' में मनुष्य के निर्बल चरित्र की। इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने समाज की सभी मुख्य समस्याओं पर प्रकाश डाला है और सुधार के द्वार को खोलकर सच्चा और सीधा रास्ता बतलाया है। प्रेमचन्दजी के सिवाय श्री वृन्दावनलाल वर्मा,

उपन्यास और समाज-सुधार

श्री चतुरसेन शास्त्री और श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' समाज-सुधार के विषयों पर उपन्यास के कथानक लिखते हैं। उर्दू-साहित्य में महान् क्रान्तिकारी और यथार्थ परिस्थितियों के कलाकार श्री कृष्णचन्द्र ने समाज-सुधार के नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित किए हैं।

देश की उन्नति समाज पर ही निर्भर है। जब तक समाज में अच्छे-अच्छे विचारों के नागरिक नहीं होंगे तब तक देश की उन्नति एक स्वप्न मात्र है, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उपन्यासों में वह ताक़त है कि वे अत्यन्त सरल और स्वाभाविक रूप से समाज की बुराइयों को दूर करते हुए देश की भलाई कर सकते हैं। 'उपन्यास' देश का एक बहुत बड़ा बल है और हमारे लेखकों को चाहिए कि वे इस बल को किसी तरह भी कम न होने दें, बल्कि उसे बढ़ाने का उपाय ही सोचते रहें।

(रेडियो के सौजन्य से)

श्री वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला

श्री वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के एक उत्कृष्ट उपन्यास-लेखक हैं। उन्होंने बड़ी सफलता से इतिहास और समाज की गम्भीर स्थितियों को सुलझाकर एक सुथरे समाज की कल्पना की है जिसमें एक ओर तो चरित्र को उठाने वाली भावनाएँ हैं और दूसरी ओर अंध-विश्वास और रूढ़ियों को तोड़नेवाली विचार-धाराएँ। जिस निर्भीकता और स्वतन्त्रता से वर्माजी ने अपने उपन्यासों से चरित्र-निर्माण किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे एक ऐसे कलाकार हैं जो साहित्य को केवल कला के लिए नहीं लिखते वरन् उसमें वे ऐसी भावनाओं का समावेश करते हैं जो समाज का मंगल करें, मनुष्य के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकें। इस प्रकार समाज को उठाना वर्माजी के उपन्यास-लेखन का प्रमुख दृष्टिकोण है। प्रेमचन्द जी की तरह वर्माजी भी एक आदर्श लेकर चले हैं अन्तर यह है कि प्रेमचन्द ने यह आदर्श अशिक्षित ग्रामीणों के जीवन से विकीर्णित किया है और वर्माजी ने शिक्षित किन्तु ऐतिहासिक नागरिकों से।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस हिन्दी को बड़ी साधना से साहित्य के योग्य बनाया उसमें पहला उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' था। तब से बहुत से हिन्दी लेखकों ने श्रीनिवासदास के अनुकरण पर उपन्यास लिखे और बंगला से अनुवाद किए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद तो हिन्दी को बंगला उपन्यासों के अनुवाद से ही बल मिला। उस बल को लेकर बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' २४ भाग लिखे जिनमें ऐयारी और तिलस्मी कारनामों की बड़ी मनोरंजक सृष्टि की गई है। सन् १९१३ में स्वर्गीय बाबू प्रेमचन्दजी ने अँग्रेज़ी शैली पर कहानियों की नींव डाली और 'पंच परमेश्वर' कहानी लिखी। बाबू प्रेमचन्द पहले उर्दू में कहानियाँ और उपन्यास लिखा करते थे, बाद में उन्होंने अपनी प्रतिभा हिन्दी के क्षेत्र में दिखलाई और थोड़े ही समय में वे हिन्दी के सब से बड़े कहानी-लेखक और उपन्यासकार मान लिए गए। प्रेमचन्द कहानी और उपन्यास के नये युग की नींव डालने वाले हुए और उन्होंने अन्य लेखकों को रास्ता दिखलाया। सन् १९२९ में बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुंडार' नाम का अपना पहला ऐतिहासिक उपन्यास लिखा और बाद में उनके उपन्यासों की माँग हिन्दी संसार में ज़ोरों से हुई।

बाबू वृन्दावनलाल ने अभी तक नौ उपन्यास लिखे जिनके नाम हैं 'गढ़कुंडार'

'कुंडलीचक्र' 'विराटा की पद्मिनी' 'संगम' 'लगन' 'प्रेम की भेंट' 'प्रत्यागत' 'हृदय की हिलोर' 'कोतवाल की करामात' और 'धीरे धीरे' नाम से इन्होंने एक नाटक भी लिखा है। इस प्रकार अभी तक वर्माजी की दस पुस्तकें प्रकाश में आई हैं। जिस प्रकार स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखकर भारत की प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश डाला है उसी प्रकार वर्माजी ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर हमारे प्राचीन आदर्शों की व्याख्या की है। पहले तो वर्माजी ने ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में ही अपनी लेखनी का कौशल दिखलाया था बाद में उन्होंने दूसरे विषयों में भी गति प्राप्त की और अपने उपन्यासों से अनेक समस्याएँ सुलझाईं।

वर्माजी ने जिन आदर्शों को लेकर अपनी लेखनी उठाई है, उन्हें हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं: पहला वर्ग तो ऐतिहासिक आदर्श के चित्रण में है जिसमें 'गढ़-कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' नामक उपन्यास आते हैं। दूसरा वर्ग सामाजिक है जिसमें 'संगम' 'प्रत्यागत' 'कुंडलीचक्र' 'कोतवाल की करामात' 'लगन' हैं; तीसरा वर्ग मनोवैज्ञानिक है जिसमें 'प्रेम की भेंट' और 'हृदय की हिलोर' है और चौथा वर्ग राजनीतिक है जिसमें हम 'धीरे धीरे' नाटक को रख सकते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक क्षेत्रों की आलोचनाएँ वर्माजी ने हमें अपने साहित्य के द्वारा प्रदान की हैं जिनमें हम अपने प्राचीन गौरव के प्रति जागरूक हो सकते हैं और वर्तमान परिस्थितियों की रूढ़ियों को तोड़कर एक कल्याणकारी समाज की स्थापना कर सकते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़कुंडार' सब से मुख्य है। महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत में जिन छोटे-छोटे राजाओं ने अपनी अलग सत्ता जमाई उनमें चंदेल, पँवार, खँगार और पड़िहार मुख्य थे। उन्होंने अपनी-अपनी मर्यादा के क़ायम रखने में जो संघर्ष किए उसको कथा रूप से बड़ी मनोरंजक शैली में वर्माजी ने स्पष्ट किया है। प्राचीन गढ़ों का तो ऐसा सच्चा चित्र खींचा गया है कि मालूम होता है कहानी-लेखक भी उसी इतिहास का एक जीता-जागता पात्र है। दिल्ली के शाह बलबन की राज्य-परिस्थितियाँ बड़ी स्पष्टता के साथ खींची गई हैं। खँगार युवक नागदेव की—बुंदेल कन्या हेमवती के साथ विवाह करने की चेष्टा में—जितनी राजनीतिक चालें हैं उतनी ही हृदय की सूक्ष्म गतियाँ भी चित्रित की गई हैं। बुंदेलखंड के वीरों का इतिहास, देश-प्रेम और मान-मर्यादा की जो ज़बर्दस्त शक्ति उत्पन्न की गई है उससे उत्साह की चिनगारी फूट पड़ती है। इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास के लिखने में वर्माजी हिन्दी में अद्वितीय हैं।

सामाजिक उपन्यासों में वर्माजी ने कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द की है। 'कुंडलीचक्र' में जन्मपत्र मिलाकर शादी करने की एकमात्र हठ से लड़की का जीवन किस प्रकार नष्ट हो जाता है यह दिखलाया गया है। भुजबल का विवाह रतन के साथ होने में जो जन्मपत्र की रूढ़ि मानी गई है उसका परिणाम अन्त में कितना कष्टकर होता है। 'प्रत्यागत' में जाति-पाँति के झगड़े का बड़ा मनोरंजक वर्णन है। मंगल का मुसलमान के हाथों जलपान करना ही हिन्दुओं के लिए गंभीर समस्या हो जाती है और प्रायश्चित की बड़ी व्यवस्था की जाती है। मंगल जिस प्रकार विषम परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है उससे कहानी-लेखक के उदार और विवेकपूर्ण विचार पर प्रकाश पड़ता है। 'संगम' में छोटी-छोटी बातों पर विवाह में जो झगड़ा हो जाता है और उससे अदालतों में जो झंझटें उठानी पड़ती हैं उनका बड़ा अच्छा चित्रण उपन्यासकार ने किया है। वर्माजी स्वयं एक सफल वकील हैं इसलिए अदालतों की कार्रवाई का बड़ा विस्तृत और रोचक वर्णन उन्होंने किया है।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में उनका 'प्रेम की भेट' उपन्यास आता है। किसी युवक और युवती में जो सच्चा प्रेम हो जाता है उसको नष्ट करने के लिए लड़की के माता-पिता हमेशा मुस्तैद रहते हैं। परिणाम यह होता है कि लड़की का लड़के से मिलना बन्द कर दिया जाता है। लड़की निराशा में बीमार पड़ती है—मर जाती है। लड़के को पता चलता है। वह मृत लड़की की कोई वस्तु (लाल चूनरी का एक टुकड़ा ही सही) उठा कर अपने हृदय से लगा लेता है और दुःख और ग्लानि से पागल हो मर जाता है। ऐसे उदाहरण हमारे समाज में वर्तमान हैं और वर्माजी ने एक सत्य घटना के आधार पर ही अपने उपन्यास का निर्माण किया है। प्रेम और विरह के मनोवैज्ञानिक चित्र लेखक के द्वारा खींचे गए हैं वे सचमुच ही आशा और निराशा के रंग से सजीव हो उठे हैं।

राजनीतिक विचारों को स्पष्ट करने वाला 'धीरे धीरे' नाम का एक मौलिक नाटक वर्माजी ने लिखा है। इसमें भूखे किसान और ज़मींदारों का संघर्ष साम्यवाद के आधार पर निर्धारित किया गया है। किसानों और मज़दूरों के साथ जो अत्याचार होता है, क़ानून-सभा के द्वारा ही जनता के अधिकार जिस उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं, जिस तरह सब बातों को धीरे-धीरे सुलझाने का आश्वासन दिया जाता है—इन सब का मनोरंजक वर्णन इस नाटक में हमें मिलता है। यद्यपि नाटक केवल सिद्धान्तों का एक समूह-सा मालूम देता है फिर भी वार्तालाप या कथोपकथन में यथेष्ट मनोरंजन है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला

वर्माजी के सारे कथानक सत्य घटना के आधार पर हैं। इससे उनके उपन्यासों में जीवन अत्यन्त स्वाभाविक रूप से चित्रित हुआ है। उन्होंने नामों में परिवर्तन भर कर दिया है बाक़ी हृदय हिलानेवाली समाज की सारी बातें वैसी की वैसी ही कथा के रूप में मिलती हैं। कथा-वस्तु का विकास इतने आकर्षक ढंग से होता है कि हम एक क्षण के लिए भी नहीं ऊबते और उपन्यास पढ़ते चले जाते हैं। कारण और कार्य की स्वाभाविकता इन उपन्यासों में सब से बड़ी चीज़ है। इसी प्रकार चरित्र-चित्रण बड़ा सजीव हुआ है। मालूम होता है कि पात्र हमारे समान ही सुख में खुश हो रहा है और दुःख में ठंडी साँसें भर रहा है। चुने हुए शब्दों में उसका पूरा रूप हमारे सामने उतर आता है। जब कभी कोई घटना वातावरण से प्रारम्भ होती है तो वर्माजी परिस्थिति का बड़ा सुन्दर रूप हमारे सामने रखते हैं। 'प्रत्यागत' के ४५वें प्रकरण में हमें रात का एक चित्र मिलता है—

'रात हो गई थी। चन्द्रमा उदय होने को था। पूर्व दिशा उसी तरह मुस्कराती हुई मालूम पड़ रही थी जैसे वरदान के पहले किसी ऋषि के मुख पर की हास्य-रेखा।'

चरित्र के रूप को स्पष्ट करने के लिए वर्माजी अलंकार और शब्द-चित्र बहुत ही उपयुक्त रखते हैं। जैसे 'गढ़कुंडार' के कुछ उदाहरण देखिए—

'इतने में वहाँ हेमवती आई। मानो काँटों में फूल खिला।'

'तड़के तारा आई। ठीक वैसे ही जैसे पूर्व दिशा में ऊषा का आगमन हो और दूब के ऊपर ओस के कणों ने मोतियों के पाँवड़े डाल दिए हों।'

'इसलिए (तारा की) मुखमुद्रा पर उसी तरह के सौंदर्य का गौरव झलक आया था जैसा पानी बरस जाने के पश्चात् संगमरमर की चट्टान पर धुली हुई चन्द्रिका के छिटकने का हो।'

'तारा अपने प्रयत्न में फलीभूत होकर कुछ मुस्कराई और चली गई जैसे सुन्दर मयूरी एक डाल से दूसरी डाल पर चली जाय।'

'गढ़कुंडार' में दर्पदलित नाग का एक चित्र देखिए। उसके मनोविज्ञान में उसका चरित्र कैसा निखर आया है! 'नाग आहत सर्प की तरह कमरे में टहल रहा है। उसकी सारी देह जल रही है और हृदय धकधक कर रहा है।'

यहाँ नागदेव का पूरा व्यक्तित्व साहस और दृढ़ता के साथ साकार हो गया है।

वर्माजी की भाषा सरल और मुहाविरेदार है। कही हुई बात तस्वीर की सजीवता रखती है। जब वर्माजी प्रकृति का वर्णन करते हैं तो मालूम पड़ता है कि प्रकृति का

चित्र ही हमारे सामने रख दिया गया है। प्रत्येक वस्तु बड़े सुन्दर ढंग से लिखी गई है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वर्माजी अपनी रचना में वह शक्ति भरते हैं जिससे समाज की सभी रूढ़ियाँ ज़ंजीर की भाँति टूट सकती हैं। हम अपने देश और समाज पर अभिमान करते हुए अपने जीवन को विवेकपूर्ण और सफल बना सकते हैं।

(रेडियो के सौजन्य से)

छायावाद का प्रभाव—कविता पर

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणामयी तर्जनी का संकेत पाकर खड़ी बोली कविता बीसवीं सदी के प्रथम दशाब्द में अपने पैरों पर खड़ी हो गई और प्रतिभा-संपन्न कवियों की लेखनी की सहायता पाकर साहित्य-निर्माण में अग्रसर हुई। यह बात दूसरी है कि उस समय भी हिन्दी के अनेक कवि अनुप्रासमयी कोमलकान्त पदावली के सतरंगी अवगुंठन से सुसज्जित, ब्रजभाषा की मादकता का मोह नहीं छोड़ सके थे और श्यामा, श्याम और करील कुंजों की महिमा गाया करते थे। खड़ी बोली कविता ने ऐतिहासिक इतिवृत्तों और राष्ट्रीय भावनाओं का सहारा लेकर अपना कार्य-क्षेत्र प्रशस्त किया, वह दिनों दिन शक्ति संचय करने लगी, किन्तु उस समय खड़ी बोली कविता काव्यगत माधुर्य लाने में असमर्थ रही। उसका व्याकरण-सम्मत रूप उसके माधुर्य में बाधा डालता दृष्टिगत होने लगा, काव्यमय होते हुए भी उसकी शब्दावली नीरस और कर्कश ज्ञात होती थी। इस परिस्थिति में खड़ी बोली की कविता घटनाओं और व्यक्तियों के बाहरी रूप-रंग को निखारने में और उससे स्फूर्ति प्राप्त कर आवेगपूर्ण कथनों में ही सीमित रही। उदाहरण के लिए संवत् १६६८ में लिखी हुई श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'न्यायादर्श' शीर्षक कविता के कुछ छंद सुनिये :

काम एक से एक हुए जिनके महान् हैं
अब भी जिसके यश-स्तंभ दंडायमान हैं
वीरसिंह का नाम जानता कौन नहीं है
उन्हें महा बलधाम मानता कौन नहीं है

कहते हैं बस, एक पुत्र था पहले उनके
होते थे सब भीत नाम ही जिसका सुन के
उनके कुल में जन्म लिया था उसने ऐसे
रत्नाकर से हुआ हलाहल प्रकटित जैसे

कुल-कलंक वह राजपुत्र अति अविचारी था
निष्ठुरता की मूर्ति भयंकर बलधारी था
उसके कारण सदा प्रजा शंकित थी सारी
रक्षक भक्षक बने समय की है बलिहारी

आदि। इस प्रकार की कविताओं में वर्णनात्मकता, उत्साह और आवेश की कमी किसी प्रकार भी नहीं। कथा का सुन्दर रूप, कुतूहलता और घटनाओं की चित्रात्मकता यथेष्ट रूप में मिलती है और हम यह मान सकते हैं कि इस प्रकार की रचनाओं ने खड़ी बोली कविता की अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाने में विशेष सहायता दी। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सतत प्रयत्नों से खड़ी बोली कविता ने इतनी शक्ति संग्रह की कि वह अब आन्तरिक संघर्षों और मानसिक द्वन्दों को प्रकट करने में समर्थ हो सकी और छाया-वाद को सच्ची अभिव्यक्ति दे सकी।

छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश कर अनंत जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिविम्ब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समाई हुई है। फूल में उसकी हँसी, लहरों में उसका बाहुबन्धन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजार और सुख में उसकी सौम्य हँसी छिपी हुई है। कवि कौतूहलमयी जिज्ञासा में उस हँसी को, उस बाहु-बन्धन को, उस संकेत को, उस गुंजार को और उस सौम्य हँसी को पहचानना चाहता है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गई। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है :

'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से विम्ब-प्रतिविम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई; अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-विन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अंधकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता, चंचलता, निश्चलता और मोह ज्ञान का केवल प्रतिविम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर है। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम

हृदय में समाया हुआ है, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।'

श्री प्रसाद ने सबसे पहले 'आँसू' में छायावाद का रूप प्रस्तुत किया। उसके कुछ छद सुनिए :

इस करुणा कलित हृदय में
क्यों विकल रागनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती
अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना
झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला
शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये

आदि। पं० सुमित्रानन्दन पंत की 'मौन-निमंत्रण' कविता छायावाद का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ छंद उसके सुनिए :

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार

दीर्घ भरता समीर निश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार
न जाने तपक तड़ित् में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन

इसी प्रकार श्रीमती महादेवी जी की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

तिमिर में वे पद-चिह्न मिले
युग युग का पंथी आकुल मन
बाँध रहा पथ के रजकण चुन
श्वासों में रूँधे दुख के पल
बन बन दीप चले
तिमिर में वे पद-चिह्न मिले
अलसित तन में विद्युत सी भर
वर बनते मेरे श्रम-सीकर
एक-एक आँसू में शत-शत
शतदल स्वप्न खिले
सजनि, प्रिय के पद-चिह्न मिले

इस संबंध में मेरी भी एक कविता है :

प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे
जग के कण कण में क्या बिखराऊँ

शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएँ निकल न पातीं।
उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर इच्छाएँ चल कर थक जातीं॥
आह, स्वप्न संकेतों से मैं
कैसे तुमको पास बुलाऊँ

जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई डूबे तारे
अश्रु-बिन्दु में डूब डूब कर दृग-तारे ये कभी न हारे
दुख की इस जागृति में कैसे
तुम्हें जगा कर मैं सुख पाऊँ
प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ

छायावाद का प्रभाव—कविता पर

इस प्रकार छायावाद ने हिन्दी कविता में एक नवीन शैली प्रचलित की। एक तो हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी महाकवि कबीर, सूर और जायसी की परंपरा ने और दूसरी ओर महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नोबुल-पुरस्कार प्राप्त 'गीतांजलि' ने खड़ी बोली हिन्दी की इस शैली के प्रसार में विशेष सहायता दी। सन् १६१६ में समाप्त होने वाले विश्वव्यापी महायुद्ध की प्रतिक्रिया ने भी भारतीय जनता की मनोवृत्ति को भौतिकवाद की ओर से मोड़कर आत्मा की अनुभूतियों की ओर अग्रसर किया और बीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी में महाकवि प्रसाद, पंत, निराला, नवीन, महादेवी और माखनलाल चतुर्वेदी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय रचनाओं की सृष्टि करने लगे।

छायावाद ने हिन्दी कविता को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि छायावाद ने हिन्दी कविता के न केवल भाव-पक्ष को किन्तु भाषा-पक्ष को भी अत्यन्त सौष्ठव प्रदान किया है। जहाँ भाव-पक्ष अनुभूति में मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक चित्रों से परिपूर्ण हो गया है वहाँ भाषा भी भावों के अनुकूल अत्यन्त मधुर एवं संगीतपूर्ण हो गई है। छायावाद ने वास्तव में हिन्दी कविता को काव्य की उच्चतम संभावनाओं से संपन्न कर दिया है। उच्चकोटि की कल्पना, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन, सुख-दुख की एक तीव्र संवेदना, सौन्दर्य का एक आलोकमय दृष्टिकोण और चित्रात्मकता छायावाद की विभूतियाँ हैं जो खड़ी बोली हिन्दी कविता को प्राप्त हुईं।

कई प्रगतिवादी आलोचकों ने छायावाद के विरुद्ध अपना मत देते हुए यह कह दिया है कि छायावाद का युग समाप्त हो गया और अब प्रगतिवाद का युग आ गया है। किन्तु ऐसे समालोचकों ने छायावाद का वास्तविक अर्थ नहीं समझा है। साहित्य के दो भाग हुआ करते हैं। पहला तो साधना-सम्मत जिसमें युग-युग की परंपराओं को पोषित कर जीवन के परिष्कार का दृष्टिकोण रहता है और दूसरा परिस्थिति-सम्मत जिसमें समसामयिक आवश्यकताओं की प्रेरणाएँ आन्दोलन किया करती हैं। छायावाद और रहस्यवाद प्रथम कोटि में आते हैं और प्रगतिवाद दूसरी में। मैं साहित्य के स्वस्थ जीवन के लिए दोनों को आवश्यक समझता हूँ। छायावाद सभी साहित्यों में और सभी कालों में पाया जाता है। उसे मैं आत्म-परिष्कार का सब से बड़ा साधन समझता हूँ। वह मानवता का एक चरम लक्ष्य-विन्दु है जिसमें जीवन की जड़ परिस्थितियों से उठकर विशुद्ध जीवन की शक्तिमयी अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे मनुष्य युग-युग के आघातों को सहन करता हुआ दृढ़तापूर्वक अपने विकास-पथ पर अग्रसर होता है। मानवता के इतिहास में छायावाद इसी प्रकार आगे चलता जायगा और जिस

प्रकार सहस्रों वर्ष पूर्व वेद की ऋचाओं में यह छायावाद और रहस्यवाद था उसी प्रकार आज से सहस्रों वर्ष बाद भी किसी दूसरे रूप में यह छायावाद और रहस्यवाद होगा। इसके साधन भिन्न होंगे, इसकी भाषा भिन्न होगी किन्तु इसकी भावना किसी प्रकार भी भिन्न न होगी।

(रेडियो के सौजन्य से)

किताबों की बातें

आज मेरे सामने कुछ पुस्तकों की समालोचना का विषय है। मैंने इस संबंध में तीन पुस्तकें चुनी हैं। इन पुस्तकों के चुनाव में भी एक विशेष दृष्टिकोण है। जहाँ ये पुस्तकें अपने विषय की दृष्टि से साहित्य की विविधता उपस्थित करती हैं वहाँ वे लेखकों की विशेषताओं की ओर भी संकेत करती हैं। हमारे साहित्य की प्रत्येक शैली में अब प्रौढ़ रचनाएँ होने लगी हैं और हम अपने साहित्य को अब अन्य भाषाओं के साहित्य के सामने निस्संकोच रख सकते हैं।

सबसे पहली पुस्तक भारतीय 'विचारधारा में आशावाद' है जिसके लेखक डा० मोहम्मद हफ़ीज़ सैयद एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्. हैं। यह पुस्तक डा० हफ़ीज़ सैयद साहब के अंग्रेज़ी में लिखे गए निबंध का हिंदी रूपान्तर है। रूपान्तरकार श्री छुंगालाल मालवीय एम. ए. हैं, और प्राक्कथन-लेखक रावराजा रायबहादुर डा० श्यामबिहारी मिश्र, एम. ए., डी. लिट्.। जहाँ मूल के लेखक ने खोज के साथ भारतीय विचार-धारा का आशामय दृष्टिकोण उपस्थित किया है वहाँ रूपान्तरकार ने अपने अनुवाद में भाषा को स्वाभाविक और प्रवाह सहित लिखने का प्रयत्न किया है और प्राक्कथन-लेखक ने दोनों ही के परिश्रम के सम्बन्ध में अपनी विद्वत्तापूर्ण सम्मति लिखी है। लेखक ने भारतीय दर्शन का गहरा अध्ययन कर अपने दृष्टिकोण को नितान्त मौलिक रूप में रक्खा है। सबसे पहले मैं लेखक की प्रशंसा इस बात में करना चाहता हूँ कि उन्होंने साम्प्रदायिक संकीर्णता से उठकर भारतीय दर्शन के तत्व को पहिचानने की चेष्टा की है। जो ज्ञान मानव-समाज के लिए जल, वायु और सुगंधि के समान हितकर है, उसमें संकीर्ण संप्रदायों का भेद कैसा? डा० मोहम्मद हफ़ीज़ सैयद ने जैसे समस्त देशवासियों के सामने इस बात का आदर्श रक्खा है कि एक धर्म वालों को दूसरे धर्म वालों के ज्ञान का आदर किस प्रकार करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सबके लिए प्रकाश है अन्धकार नहीं, उसी प्रकार ज्ञान सदैव महान् है चाहे वह किसी भी धर्म से क्यों न आया हो।

प्रोफ़ेसर जेम्स सली ने अपनी पुस्तक 'पैसिमिज़्म' में भारतीय आर्यों के दार्शनिक विचारों में घोर निराशावाद का उल्लेख किया था, इसी प्रकार प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने भी हिंदू दार्शनिकों की दृष्टि में जीवन को स्वप्नवत् या भारस्वरूप ही मानकर अपने मत

का प्रचार किया था। डा० एलबर्ट स्क्वीटज़र ने अपनी पुस्तक 'क्रिश्चियेनिटी एंड दि रिलीजंस अव् दि वर्ल्ड' में भारतीयों की धार्मिक प्रवृत्ति को नैराश्यपूर्ण मानते हुए कहा था : चूंकि भारतीय एक अतीन्द्रिय शुद्ध और पवित्र देवलोक की कल्पना करते हैं, इसलिए वे भौतिक जगत् में विकास की संभावना पर विश्वास नहीं रखते। इस प्रकार भौतिकवाद में पूर्ण रूप से सने हुए पश्चिम के विद्वानों ने जीवन में संघर्ष करने वाली अपनी आशामयी प्रवृत्ति की डींग हाँकते हुए भारतीय विचार-धारा को घोर निराशावादी सिद्ध कर दिया था। डा० मोहम्मद हफ़ीज़ सैयद ने इस चैलेंज को स्वीकार किया और उन्होंने भारतीय दर्शन के सभी महान् ग्रन्थों का अध्ययन कर यह सिद्धान्त संसार के सामने रक्खा कि भारतीय दर्शन जहाँ एक अनन्त जीवन में विश्वास रखता है, वहाँ वह इस भौतिक जीवन में कर्मयोग की व्याख्या भी करता है जो संसार के दर्शनों में अद्वितीय है। उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय विचार-धारा के मूल सिद्धान्तों की विवेचना की है जिसके अन्तर्गत विविध उपनिषदों में दिए हुए ब्रह्म, ईश्वर, पुनर्जन्म, लोक, दृश्य और अदृश्य, आश्रम-चतुष्टय आदि के दृष्टिकोण पर विचार किया गया है। उन्होंने जो तत्व खोज निकाला है वह यह है कि यद्यपि हिंदू धर्म अनेक संप्रदायों और वादों में विभाजित हो गया है तथापि उसमें ब्रह्म की जो व्याख्या की गई है वह आत्मान्तर्यामी अमृत के रूप में है, वह आत्मा है, अन्तर्यामी है और अमर है। वह जीव को ब्रह्म के निकट तक ले जाकर उसी की विभूतियों से पूर्ण कर देता है, फिर निराशा कैसी ? जो जीव ब्रह्म का अंश है वह पूर्णता प्राप्त करने के लिए कर्म में प्रयत्नशील होता है। इसी कर्म करने में जिस कुशलता को वह प्राप्त करता है वही कर्मयोग का आधार-स्तंभ है, अतः जब निष्काम-भाव तथा कुशलता से परम पद की प्राप्ति के लिए मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है तब अकर्मण्यता और निराशा कैसी ? लेखक ने वैदिक दृष्टिकोण में ही नहीं प्रत्युत बौद्ध और जैन दर्शनों में भी आशावाद का संदेश पाया है। बौद्ध दर्शन से लेखक ने जो सिद्धान्त निकाला है वह इस प्रकार है :

जिस प्रकार सब नक्षत्रों की ज्योति मिलकर भी चन्द्र की ज्योति के सोलहवें अंश तक नहीं पहुँचती, उसी प्रकार मनुष्य के सब सत्कर्म मिलकर भी हृदय के उद्धार-स्वरूप प्रेम के सोलहवें अंश को भी नहीं पा सकते। जिस प्रकार मेघ-रहित आकाश में सूर्य उदय होता, चमकता और प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित और ज्योतिर्मय कर देता है उसी प्रकार हृदय का उद्धारक रूप प्रेम मनुष्य के सब गुणवान कर्मों से श्रेष्ठ और उन्हें भासमान, प्रकाशमान तथा ज्योतिर्मय करता है।

इसी प्रकार लेखक ने जैन दर्शन से भी अपना निष्कर्ष निकाला है। वे कहते हैं :

जैनियों में बड़ा कठोर संयम है। उसकी कठोरता आचरण संबंधी नियमों से ही प्रकट हो जायगी। एक साधारण जैनी के जीवन की प्रथम अवस्था जैन मत में बुद्धि-संगत और विचारपूर्ण भाव से श्रद्धा रखना है और दूसरी अवस्था तब आती है जब वह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी जीव की हत्या नहीं करेगा, झूठ से दूर रहेगा आदि। इन सभी गुणों को केवल एक शब्द 'अहिंसा' के अंतर्गत माना गया है। 'किसी को दुःख न दो' यह केवल एक निषेधात्मक आदेश नहीं है, वरन् इसमें सेवा का भाव भी सम्मिलित है।

इस प्रकार लेखक अपने दृष्टिकोण को पुष्ट और प्रमाणित करने में पूर्ण सफल हुआ है। लेखक का सिद्धान्त सत्य भी है। जिस दर्शन में 'हे प्रभु, मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो' जैसी प्रार्थना है, वह दर्शन निराशावादी हो ही नहीं सकता।

इतने सुंदर ग्रन्थ में दो एक दोष अवश्य आ गए हैं। पहला तो यह कि इसमें जैन दर्शन की जैसी समीक्षा होनी चाहिए वैसी नहीं हो सकी। जैन दर्शन के थोड़े से सिद्धान्तों का आश्रय लेकर ही लेखक ने अपने निष्कर्ष निकाले हैं और दूसरा दोष यह है कि इस ग्रन्थ में विचारों की पुनरावृत्ति अधिक पाई जाती है। लेकिन संपूर्ण पुस्तक का महत्व देखते हुए इन दोषों पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। अन्त में हम डा० मोहम्मद हफ़ीज़ सैयद को ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने पर बधाई देते हैं। पुस्तक १७६ पृष्ठों में समाप्त हुई है और नवलकिशोर बुकडिपो, लखनऊ से प्रकाशित है।

दूसरी पुस्तक है 'भस्मावृत चिनगारी' जो पन्द्रह कहानियों का एक सुंदर संग्रह है। इसके लेखक श्री यशपाल जी हैं जो आधुनिक कथा-साहित्य में काफ़ी ख्याति अर्जित कर चुके हैं। पुस्तक का नामकरण पहली कहानी के शीर्षक से ही हुआ है। अपने इस कहानी-संग्रह की भूमिका में श्री यशपाल ने अपने कला संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं:

'कला और साहित्य का उद्देश्य सभी अवस्थाओं में मनुष्य में नैतिकता और कर्तव्य की प्रवृत्तियों की चिनगारियों को भावना की फूँक मारकर सुलगाना ही रहता है। अंतर रहता है, हमारे विश्वास और दृष्टिकोण में। कभी हम समझते हैं इन चिनगारियों से निकली ज्वाला प्रकाशकर मार्ग दिखायेगी, कभी हम समझते हैं यह ज्वाला हमारे समाज की रक्षा करने वाले घर को फूँककर राख कर देगी।'

लेखक ने अभी तक मान्य सिद्धान्तों और वस्तुस्थितियों के दूसरे पहलुओं को दिखलाने का दृष्टिकोण इन कहानियों में रक्खा है। नैतिकता का जो आदर्श और मान-

दंड हमारे पूर्वजों ने समाज के सामने रक्खा था उसके अतिरिक्त दूसरा दृष्टिकोण और मानदंड भी लेखक हमारे सामने रखना चाहता है। यह आदर्श और मानदंड आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से तर्क और न्याय के आधार पर उपस्थित किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि श्री यशपाल ने अपनी कहानी-कला को ऐसी सजीवता और मौलिकता प्रदान की है कि वह मनोरंजन की सृष्टि करने की क्षमता रखते हुए बड़ी मर्मस्पर्शिनी हो उठी है। यशपालजी की प्रत्येक कहानी में एक ललकार है, एक चोट है। समाज को झकझोर कर जैसे उससे कहा गया है कि 'महाशय, आप वहाँ कहाँ चले जा रहे हैं, ज़रा अपने बाज़ू नज़र डालकर यह महाकांड तो देखते जाइए!' समाज को एक क्षण ठहरना पड़ता है और उसे लज्जित होकर लेखक को धन्यवाद देना पड़ता है। प्रत्येक कहानी का एक नैतिक उद्देश्य है। 'भस्मावृत चिनगारी' में कला की साधना का वास्तविक दृष्टिकोण है, 'गुलाम की वीरता' में दासत्व में जकड़े हुए मनुष्य का वीरता के लिए दंडित होना है, 'महादान' में धनिकों की स्वार्थ-साधना का आडंबरपूर्ण धन दान से छिपाया जाना है, 'गवाही' में मनुष्य की चरित्रहीनता की प्रतिक्रिया है, 'वफ़ादारी की सनद' में राष्ट्रीयता के कायर नेता पर चोट है, 'वान हिंडनबर्ग' में मुख्य अध्यापिका की अपेक्षा स्कूल के माली के आत्म-गौरव की झलक है,'भाग्यचक्र' में तिरस्कृता युवती की नाव किस प्रकार बाज़ार के घाट लगती है, 'पुरुष भगवान' में प्रेम की प्रेरणा की महाशक्ति को पुरुष ने किस प्रकार संस्कारों में दबा दिया है, 'देवी का वरदान' में धार्मिक विश्वासों में पारिवारिक जीवन की असुविधा पर कैसा व्यंग्य है, 'इस टोपी को सलाम' में राष्ट्रीयता के आतंक की बात किस ढंग से कही गई है, यह सराहनीय है। 'सत्य का मूल्य' में सम्राट् श्री हर्षवर्द्धन की सभा भी सत्य के आगे तुच्छ हो गई है। 'सआदत' में नारी के सौन्दर्य की चिरन्तन भावना पर संकेत किया गया है। 'साग' में दासत्व की विवशता है 'पहाड़ के छल' में नैतिकता के प्रति घोर अन्याय का एक सजीव स्मृति-चित्र है और 'घोड़ी की हाय' में ईश्वर के न्याय पर व्यंग्य है।

यशपालजी की सभी कहानियाँ अपने दृष्टिकोण में सफल हैं किन्तु 'भस्मावृत चिंगारी','गुलाम की वीरता','महादान','वान हिन्डनबर्ग','सत्य का मूल्य' और 'पहाड़ का छल' लेखक की अमर कहानियाँ हैं। इन कहानियों में नैतिक और सामाजिक परंपराओं के प्रति कहीं परिहास है, कहीं व्यंग्य है और कहीं भरपूर आक्रमण है। यशपालजी ने नारी की समस्या को उसके पूरे तथ्यवाद के साथ उपस्थित किया है किन्तु अश्लीलता की कहीं गन्ध भी नहीं आ पाई है। इन कहानियों में जहाँ आधुनिक नैतिकता में संशोधन करने

का स्पष्ट आदेश है,वहाँ कला के रूप की भी पूर्ण रक्षा है। भाषा अत्यन्त स्वाभाविक और भावों की तीव्रता को स्पष्टकरने वाली है। कुछ व्यंग्य देखिए, कितने तीव्र हो उठे हैं :

१. जो कम्बख्त कमीन ग़ुलाम होकर जन्मा है वह वीरता क्या करेगा ? करेगा तो उसका दंड पायेगा। (ग़ुलाम की वीरता)

२. विनीत स्वर में अकिंचन भाव से सेठजी ने उत्तर दिया—मैं किस लायक हूँ...सब भगवान का ही है...उन्हीं के अर्पण है...किस लायक मनुष्य है। (महादान)

३. अपने ही स्थान पर खड़े रह दिननंक ने कर जोड़, सिर झुका विनय की—पृथ्वी के पालक धर्मराज सम्राट्. क्षमा करें, सत्य का मूल्य मेरे प्राण हैं. एक लाख मुद्रा नहीं। (सत्य का मूल्य)

भाव की अभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए :

'पीढ़ियों से दबी निर्बल की घृणा और प्रतिहिंसा ऐसे उछल पड़ी, जैसे कोई फौलादी स्प्रिंग कब्जे से निकलकर उछल जाय। पीढ़ियों तक भूख न मिटने और आवश्यकताएँ पूर्ण न होने से आत्म-विश्वास और गौरव खो चुके, ऊसर में उगे पौधों जैसे बेपनपे गठियाये से लोग गरूर और सरूर में हाथ-पाँव फेकने लगे। जैसे चीटियों का दल सदा उन्हें खाती रहने वाली गिरगिट का सिसकता शव पाकर उस पर टूट पड़े, चढ़ बैठे, वैसे ही सदा से त्रस्त दलित रहने वाली मनुष्यत्व को खो चुकी प्रजा अपने विश्वास में सिसकते हुए अंग्रेजी साम्राज्य के शव पर कूदने लगी।'

इसी क्रान्ति का स्वर सर्वत्र इस कहानी-संग्रह में गूँज रहा है। पुस्तक १५२ पृष्ठों में समाप्त हुई है और विप्लव कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई है। मैं समझता हूँ कि 'भस्मावृत चिनगारी' की कहानियाँ हमारे साहित्य के कहानी-लेखकोंको कला के इस नवीन मार्ग पर चलने का आग्रह अवश्य करेंगीं।

तीसरी पुस्तक है 'छायालोक'। यह श्री शम्भूनाथ सिंह की चालीस कविताओं का संग्रह है। श्री शूंभनाथ सिंह का प्रथम संग्रह 'रूपरश्मि' प्रकाशित हो चुका है जिसमें जीवन के प्रथम प्रभात में जीवन और जगत के सौंदर्य की रंगीनी थी। यौवन की चढ़ती बेला में सत्य की प्रखर किरणों ने उस रंगीनी को मिटा दिया। लेखक के शब्दों में 'छायालोक' का परिचय इस प्रकार है :

'जीवन के पथ पर बढ़ते हुए कवि के सहज सुकोमल मन ने क्लांत श्रांत होकर विश्राम चाहा। उसे जीवन के सपनों की शीतल छाया अनायास ही मिल गई। मन को उस छाया में विश्रान्ति मिली। आगे की यात्रा के लिए शक्ति मिली। 'छायालोक' में उन्हीं श्रम और विश्राम के क्षणों की विविध अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं।'

इस संग्रह में अधिकतर वही भाव-धारा है जो हिंदी में छायावाद के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। आधुनिक युग में जो प्रगतिवाद की धारा चल पड़ी है उसके समर्थकों की आलोचना से त्राण पाने के लिए ही संभवतः कवि को कहना पड़ा है कि इन भूमियों में मन पलायन के लिए नहीं, शक्ति-संचय के लिए रमा है। जगत् के संघर्षों पर लिखने के लिए वह अपनी अगली यात्रा की प्रतीक्षा कर रहा है।

श्री शंभूनाथसिंह की कविताओं में अधिकतर उस भावना का प्रसार है जो प्रेम में पूर्ण हो आत्मसमर्पण कर देती है और निराशा में उपालंभ और मनुहार का रूप लेती है। यों जीवन-दर्शन के संबंध में कुछ सुंदर व्यंजनाएँ हैं किंतु वे केवल सूक्तियों में ही सीमित होकर रह गई हैं। प्रेम में आत्म-समर्पण की पंक्तियाँ देखिए :

बहाओ न यों
न जाने मुझे प्राण, क्या हो गया.
मधुर स्वप्न बन आज मैं खो गया।
अगर है भँवर से बचाना मुझे,
प्रिये, धार में तो बहाओ न यों।

× × ×

न जाने किधर से इधर आ गया.
तुम्हारा मधुर स्नेह मैं पा गया।
मदिर गीत सा प्राण में छा गया,
अगर दीप सा है जलाना मुझे
प्रिये, अश्रु के घन उठाओ न यों,
बहाओ न यों।

इसी भाँति उनके जीवन-दर्शन के दो चित्र देखिए :

पागल मन, मत मनुहार करो
भ्रम हो सकता वरदान नहीं,
सच होते स्वप्न विधान नहीं।
बुलबुले भँवर में जीवन के,
बन सकते हैं जलयान नहीं।
मेरे मन, जल-माया से हट,
अपने पर तो अधिकार करो।

× × ×

रजनी दे देती जो जलकरण,
भर लो उनसे अपने लोचन।
मत निर्मोही घन से माँगो,
प्यासे सागर मधुमय जीवन।
रोने वाले जो कुछ मिलता
हँसते हँसते स्वीकार करो,
पागल मन मत मनुहार करो।

दूसरा उदाहरण देखिए :

कहाँ आ गया मैं
न मेरी किसी को कभी याद आई,
न मैंने कभी दी किसी की दुहाई
हृदय की व्यथा थी हृदय को सुनाई।
बिना रंध्र की बाँसुरी में कभी था
कि सहसा मधुर गीत की गूँज बन कर
धरा व्योम के बीच लहरा गया मैं,
कहाँ आ गया मैं।

'छायालोक' ७६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है और युग-मन्दिर, उन्नाव से प्रकाशित हुआ है।

कवि की रचनाएँ प्रौढ़ हो चली हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कवि की साधना इसी प्रकार चलती रही तो निकट भविष्य में उसका नाम हिन्दी काव्य-साहित्य में श्रद्धा और आदर के साथ लिया जायगा।

(रेडियो के सौजन्य से)

मैं व्यापारी बन गया

मैं साहित्य का एक विद्यार्थी हूँ, किन्तु राज्य-विभाग से आये हुए एक तार द्वारा मुझे एक व्यापारी का रूप मिला है। विद्यार्थी व्यापारी नहीं होता इसलिए मैंने कभी व्यापार नहीं किया। किन्तु उस तार को देखकर कोई भी कह सकता है कि मैं व्यापारी हूँ। बात मनोरञ्जक है, सुनिये।

मैं आजकल नामदेव के पदों का सम्पादन कर रहा हूँ। इस कार्य के लिए मैंने नामदेव के पदों के विविध संस्करणों को खोजकर पदों के पाठ का मिलान किया। मैंने चेष्टा की कि महाराष्ट्र प्रेस के संग्रहों. 'सन्त-वाणी' की पोथियों, साम्प्रदायिक ग्रन्थों और 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब' आदि में आये हुए नामदेव के पदों का तुलनात्मक विवेचन कर मैं उनका सही पाठ निर्धारित करूँ। जब मेरा यह कार्य समाप्त हो गया तो मैंने पुस्तक प्रेस में भेज दी।

पुस्तक का छपना प्रारम्भ नहीं हुआ था कि मुझे ज्ञात हुआ कि जोधपुर राज्य-पुस्तकालय में नामदेव के पदों की एक प्राचीन प्रति है। जोधपुर में मेरे एक विद्यार्थी हैं—श्री कल्याणमल लोढ़ा, एम० ए० जो विलारा (जोधपुर) में 'माफी इंक्वायरी आफ़िसर' हैं। मैंने पुस्तक का छपना रोक कर उन्हें नामदेव के पदों की उस प्राचीन प्रति के सम्बन्ध में लिखा। उन्होंने पत्र द्वारा मुझे सूचना दी कि राज्य पुस्तकालय की प्रति में नामदेव की कविता का केवल थोड़ा ही अंश मिला है। यद्यपि उसके अक्षर ठीक तरह से पढ़े नहीं जाते फिर भी उसकी प्रतिलिपि सावधानी के साथ कराकर मेरे पास भेजी जा रही है।

दूसरे दिन मुझे लोढ़ाजी का एक तार मिला जिसमें लिखा था—

'Letter wrong. despatching 300 mds pads.'

अर्थात् 'जो पत्र मैंने आपको भेजा था, वह ग़लत है। तीन सौ मन पैड (शायद पत्र लिखने के काग़ज़ का पैड) भेजा जा रहा है।'

मैं थोड़ी देर के लिए चक्कर में पड़ गया। मुझे पैड्स का व्यापार तो करना नहीं है जो मेरे पास बम्बई के किसी व्यापारी की तरह ३०० मन पैड्स की पहुँच का तार भेजा जावे। 'पैड' रुई या कपास का बण्डल भी हो सकता है लेकिन मैंने लोढ़ाजी से पैड आदि जैसी वस्तुएँ कभी मँगायी भी नहीं हैं। रुई के पैड की मुझे कभी ज़रूरत

नहीं और काग़ज़ का पैड आसानी से बाज़ार में मिल सकता है, उसके लिए जोधपुर लिखने की आवश्यकता भी नहीं। और मगर लोढ़ाजी अपनी गुरु-भक्ति में आकर जोधपुर से अच्छे काग़ज़ पर मेरे नाम के पैड छपाकर भेज रहे हैं तो तीन सौ मन का क्या होगा! और तीन सौ मन का पारसल कैसा होगा! मालगाड़ी का कोई वैगन शायद उन्होंने किराये पर लिया हो। लेकिन अगर मैं जीवन भर पत्र लिखूँ तो तीन सौ मन पैड खत्म नहीं होंगे। फिर पैड तो संख्या में लिखे जाते हैं, वज़न में नहीं। और लोढ़ाजी को सूझा क्या है कि वे मेरे लिए एकबारगी तीन सौ मन पैड छपवा कर भेज रहे हैं!

आध घण्टे तक सोचता रहा, कुछ समझ में नहीं आया। इसी समय मेरे शिष्य और मित्र श्री राधेश्याम शर्मा एम० ए० आये। उनके सामने मैंने तार रखा। वे बड़ी उलझन में पड़े। कुछ देर के सम्मिलित प्रयास और मनोरञ्जन के बाद, तार का मतलब समझ में आया।

लोढ़ाजी ने लिखा है कि जो पत्र मैंने आपके पास भेजा था, वह ग़लत है—यानी नामदेव की कविता का थोड़ा अंश नहीं; अधिक अंश मिल गया है। और अब मैं नामदेव के ३०० सौ पद भेज रहा हूँ। तार विभाग के कर्मचारी ने नामदेव के संक्षिप्त रूप एन डी को एम डी कर दिया और उसके साथ सम्बन्ध कारक की विभक्ति एपासट्राफ़ी एस ('s) को मिलाकर एम डी एस० अंग्रेजी के मांड्स यानी मन के संक्षिप्त रूप में लिख दिया। पद के अंग्रेजी रूप padas के डी के बाद वाले 'ए' का लोप कर दिया और उसे pads जो पैड्स के रूप में भी पढ़ा जा सकता है, लिख दिया। इस प्रकार सरलता से मेरे पास तीन सौ मन पैड पहुँचने की सूचना आ गई।

कुशल हुई कि अजमेरवाले सेठजी की 'बही खो गई' का रूपान्तर 'बहू खो गई' जैसा मेरे तार में नहीं हुआ! इसके लिए मैं किसे धन्यवाद दूँ, लोढ़ाजी को या तार-विभाग के कर्मचारी को? लेकिन यह मैं कभी मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि मेरे नाम तीन सौ मन पैड भेजे जायँ और उसकी सूचना मुझे ऐसे चमत्कारपूर्ण तार से दी जाय! भारतीय विद्यार्थी को अंग्रेज़ी की रोमन लिपि का यह प्रसाद है। मुझे व्यापारी का रूप देने के लिए मैं भारतीय तार-विभाग को धन्यवाद का तार भेज रहा हूँ।

जीवन—मेरी दृष्टि में

मैंने एक नाटक लिखा है। उसका नाम है 'उत्सर्ग'। उसमें दो कैरेक्टर आपस में बात करते हैं, जीवन के सम्बन्ध में। एक कैरेक्टर है डाक्टर शेखर जो संसार का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक है। जिसने मृत्यु के उस पार देखने की कोशिश की है और अपने 'एपराटस' के सहारे मरे हुए आदमी को फिर आँख से देखने में सफलता पाई है। दूसरा कैरेक्टर है मंजुल जो डाक्टर शेखर की पोष्य-पुत्री है। मंजुल बहुत सीधी-सादी लड़की है और उसे डाक्टर शेखर की खोज से डर भी लगता है और आश्चर्य भी होता है। मृत्यु के संबंध में बातें करते हुए वे दोनों जीवन की गति-विधि पर बातें करने लगते हैं और जब मंजुल कहती है—"अच्छा पिताजी, अब मैं बहुत गंभीर बन जाऊँगी, अब नहीं हँसूँगी" तो डा० शेखर सौम्य भाव से कहता है—"हँसने से तुझे कौन रोकता है? मैं यही तो सिद्ध करना चाहता हूँ कि यह जीवन सदैव हरा-भरा है। सुंदर है, मधुर है जैसे चाँद की हँसी, फूल की सुगंधि, पक्षी का कलरव। नदी की लहर जो हमेशा आगे बढ़ना जानती है। फैलती है, तो जैसे पलक खुल रही है। और वह पल भर में संसार का तट छू लेती है।"

डा० शेखर ने मेरे हृदय के शब्द छीन लिए हैं और डाक्टर के स्वर में मेरा स्वर गूँज रहा है। जीवन सुन्दर है, मधुर है जैसे चाँद की हँसी, फूल की सुगंधि, पक्षी का कलरव। नदी की लहर जो हमेशा आगे बढ़ना जानती है। फैलती है, तो जैसे पलक खुल रही है! और वह पल भर में संसार का तट छू लेती है। मेरे विचार से जीवन की परिभाषा इससे अधिक क्या हो सकती है? इसमें सुख है, सुगंधि है, रूप है और है ऐसी प्रगतिशीलता जो अपने से निकल कर सारे संसार को छू लेती है।

इतिहास काल के पूर्व से लेकर आज तक जीवन की लड़ाई बहुतों ने लड़ी। किसी ने सफलता पाई और किसी ने असफलता। साहित्य ने भी इस बात का प्रयत्न किया कि वह जीवन को अधिक से अधिक ऊँचे धरातल पर ले जाय और वह केवल अपने में ही सीमित न रहे, वरन् समस्त विश्व को छूकर 'यूनीवर्सल' या विश्वजनीन हो जाय। शेक्सपीयर के इयागो में संसार के धूर्तों की प्रतिमूर्त्ति है। सूरदास की यशोदा में संसार भर की वात्सल्यमयी माताओं के हृदयों का स्पंदन है। इसलिए संसार के साहित्य ने इस बात की कोशिश की है कि जीवन अपने आप में सीमित न रहे, वरन्

वह अधिक से अधिक व्यापक होकर सारे संसार की गतिशीलता अपने भीतर भर सके। अधिक से अधिक व्यापक होने का भाव यह है कि संसार के सारे रूपों को सार रूप से ग्रहण कर वह छोटे आकार में बड़े आकार का गुण रख सके। जिस तरह इत्र या रूह फूल की सारी सुगंधि समेट कर एक बूँद में संसार के सारे फूलों का प्रतिनिधित्व करता है उसी तरह जीवन भी सारे संसार की गतिशीलता को अपने में समेट कर संसार को छोटे पैमाने में रख दे। इस सम्बन्ध में ईशावास्योपनिषद् के आरंभ में ही बड़ा सुन्दर श्लोक है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनं ।।

इसका अर्थ यही है कि जो सारा संसार है, यह ईश्वर के द्वारा आच्छादित है। तू इस संसार के नाम-रूप आदि विकारों को त्याग कर वास्तविक या सच्चे तत्व का स्वाद ले। और किसी के धन की इच्छा मत कर। यह उदाहरण मैंने इसलिए दे दिया है जिससे आप यह समझ सकें कि अपने देश में ज़िंदगी को समझने के लिए कितनी बारीक नज़र से संसार को देखने की कोशिश की गई है। साहित्य और दर्शन दोनों ने ही जीवन को ज़्यादा से ज़्यादा विस्तार देना स्वीकार किया है। वह किसी तालाब की तरह सीमाओं से नहीं घिरा हुआ है, वरन् वह सूरज की किरण की तरह चारों दिशाओं में ज्योति लेकर फैलता है और वह इतनी गति लेकर चलता है कि मालूम ही नहीं होता कि वह यहाँ से वहाँ जा रहा है। सूरज निकला और प्रकाश फैल गया। सूरज की किरण कीड़े की तरह नहीं रेंगती। वह अनुभव की तरह संसार के हृदय में समा जाती है। इसी तरह मैं भी जीवन को कीड़े की तरह रेंगते हुए नहीं देखना चाहता। मैं चाहता हूँ कि जीवन फूल की तरह खिले और सुगंधि की तरह संसार में समा जाय।

मैं कविता लिखता हूँ और नाटक भी। इन दोनों को लिखते समय मैं बार-बार यह अनुभव करता हूँ कि मैं अपने मित्रों को ऐसी चीज़ दूँ जो किसी न किसी तरह नई हो और जो उनके मन की उत्सुकता बढ़ाती हुई उन्हें किसी सत्य या रहस्य से परिचित करा दे। यों तो सूरज की किरण ने अब किसी रहस्य को रहस्य नहीं रहने दिया है फिर भी सामने से देखी जानेवाली चीज़ अगर किसी कोने से देखी जाय तो उसमें कुछ नवीनता मालूम देती ही है। इसलिए अगर कोई लेखक कुछ नवीनता उपस्थित ही करना चाहता है तो वह दृष्टिकोण के भेद से ही कर सकता है। इस प्रकार की नवीनता उपस्थित करते समय मैं प्रायः यही अनुभव करता हूँ कि 'सत्य' कंकाल की

तरह उपस्थित नहीं किया जा सकता, उसे एक रूप देने की आवश्यकता हुआ करती है। यह रूप कैसा होता है? इंद्रियों के आकार का। यदि यह इंद्रियों के आकार का रूप है तो यह हाथ से छुआ जाता है या आत्मा से? मैंने देखा है कि हाथ से छुए जाने वाले रूप में अधिक आकर्षण है। आत्मा से छुए जानेवाले रूप में कम आकर्षण है। किन्तु पहले में नशा है, दूसरे में शान्ति है, पहले में ख़ुमार है, दूसरे में सुषुप्ति जो तुरीयावस्था तक ले जाने की शक्ति रखती है। 'अट्ठारह जुलाई की शाम' नामक नाटक में उषा में इंद्रियों के रूप का आकर्षण है और राजे में आत्मा के रूप का। उषा एल्फ्रेड पार्क के लान पर बैठी है। अशोक, उसका प्रेमी, उसकी केश-राशि के खुले हुए छोर में कोमल कलियों को क़ैद कर रहा है, सुन्दरता से सुन्दरता को बाँध रहा है। 'लेडी आव दि नाइट' की सुगंधि जैसे उसके सामने अपने को हवा में खो देना चाहती है। यूक्लिपटिस पेड़ के पीछे से चाँद उन्हें देखता है, और उस वक्त कोयल कहती है 'कूऊ'। दूसरी ओर साधारण वस्त्रों में राजे आती है और आते ही पहली बात वह यह कहती है कि उसकी बहन मृत्यु-शैया पर है और वह सहायता चाहती है। उषा के कैरेक्टर में रूप की वासना हिमालय पर्वत पर चढ़ कर पुकारती है कि मैं हूँ उषा जिसमें यौवन की लालिमा है। राजे के कैरेक्टर में करुणा का सौन्दर्य है जो रोम-रोम में एक सिहरन पैदा कर आत्मा में बस जाता है और मनुष्यत्व कहता है—मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। परिणाम होता भी यही है। राजे की करुणा उषा के रूप की रानी बन जाती है। यही दृष्टिकोण जीवन का होना चाहिए। मैं जीवन में रूप के आकर्षण को कम नहीं समझता। उससे जीवन में जागरण आता है। प्रकृति में जो कुछ भी आकर्षक है उसकी ओर आँखें उठ जाना स्वाभाविक है। लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि रूप का आदर्श और 'मिशन' केवल इंद्रियों के बाहरी धरातल तक ही न रहे, वरन् इंद्रियों को पारकर वह आत्मा का तार हिला दे। हमारे यहाँ के सूफ़ी और संत-कवियों ने जो मिलन और विरह के चित्र खींचे हैं वे इंद्रियों की पुकार से नहीं बने, वे आत्मा की आवाज़ से बने हुए हैं। रूप की सार्थकता भी यही है। ऊपरी रूप तो केवल एक वार्निश या पालिश है :

क्या शरीर है? शुष्क धूल का थोड़ा सा छवि-जाल।
उस छवि में ही छिपा हुआ है वह भीषण कंकाल॥

इसलिए यह स्पष्ट है कि मैं जीवन को सौन्दर्य और सुख का केन्द्र मानता हूँ। ऐसे सौन्दर्य का जो कभी पुराना न हो, जिसमें कभी बुढ़ापा न आये और ऐसे सुख का जो विपत्ति के बादल से भी धुँधला न होने पाये। आप एक दुर्बल किसान को

लीजिए। उसके जीवन में क्लेश है, दुःख है, भरपेट उसे भोजन नहीं मिलता। जो कुछ भी उसने मेहनत से पैदा किया है, वह पारे की गोली की तरह चारों ओर बिखर गया है। आज उस पर ज़मींदार के कारिंदे की मार भी पड़ी है। शाम को वह घर लौट कर आया। उसकी स्त्री ने ख़ुद भूखे रह मुट्ठी भर चने उसके सामने रख दिए और आँख में आँसू भर कर कहा—'तुमने आज दिन भर से कुछ नहीं खाया। यह खाकर थोड़ा पानी पी लो।' जीवन का सारा सौन्दर्य इस बात में अपने आपको समेट कर बैठ गया है और चने के साथ एक टूटे हुए सकोरे में रक्खा हुआ है। आप चाहें तो उसे वहाँ देख सकते हैं। किसान ने आधे चने खुद खाए और आधे बचाकर रख दिए हैं। जब रात को उसकी स्त्री पैर दबाने के लिए आवेगी तो वह उसे वे चने अपने हाथ से खिलायेगा।

इस तरह जब जीवन का यह रूप विपत्तियों के संघर्ष से बचकर आयेगा तो सुख को छेड़कर जगाना न भूलेगा। तभी जीवन हँसकर कहेगा—मैं जीवन हूँ। ऐसे जीवन को न तो ड्राइंगरूम की आवश्यकता है और न गद्देदार कुर्सियों की। ऐसा जीवन यह भी न देखेगा कि किसान की स्त्री गोरी है या काली। वह तो इन सब कालिमाओं से छनकर आयेगा और तब मालूम होगा कि वह जीवन चाँदनी की तरह सब तरफ से बरस रहा है। नदी की लहर की तरह बढ़ रहा है जो कभी पीछे लौटना नहीं जानती, आगे बढ़कर सुख के तट को चूमना ही जिसका काम है।

इस विचार के सिलसिले में जीवन की प्रगतिशीलता का प्रश्न उपस्थित होता है। दो व्यक्तियों का जीवन कभी एक सा नहीं होता, इसका कारण क्या है? एक ही पिता के दो पुत्र एक ही तरह से पोषित होने पर भी एक-सा जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। क्यों नहीं कर सकते? इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति को एक-सी परिस्थितियों का सामना नहीं करना पड़ता। जीवन के अनेक विभागों में नई-नई बातें पैदा होती हैं और उन बातों के सुलझने और उलझने में सैकड़ों बातें ऐसी होती हैं जो कभी ध्यान में भी नहीं आ सकतीं। फिर स्वभावों की भिन्नता भी जीवन को नये-नये साँचों में ढालती है। यदि प्रतिकूल परिस्थितियों को दबा दिया गया तो जीवन का मिशन ही अधूरा रह जाता है। बात वैसी ही होगी जैसे किसी मरुस्थल में जाकर नदी अपना बहना भूल जाय। जीवन की प्रगतिशीलता का तो तात्पर्य यही है कि वह रोकने और दबाने वाली चीज़ों से उभर कर और भी वेग से बहना प्रारंभ कर दे। जिस तरह पानी की धारा के सामने एक पत्थर आ जाता है और पानी दायें-बायें होकर निकलता है या अपने वेग से पत्थर के ऊपर बहकर निकलने लगता है उसी तरह जीवन भी विपत्तियों के ऊपर से होकर बहने

लगे । पत्थर की ठोकर से जिस तरह पानी दूध की तरह सफेद होकर शब्द करता हुआ बहने लगता है उसी तरह विपत्तियों से जीवन को और भी निखरना चाहिए। उससे ध्वनि निकलनी चाहिए कि मुझे पत्थर की चोट लगी है पर मैं उसे पारकर बह रहा हूँ। तभी जीवन की सार्थकता है और ऐसा जीवन ही आगे बढ़कर संसार को सींचता हुआ प्रकृति और सृष्टि के सागर में मिलता है।

मैंने जीवन इसी तरह देखा है। चाँद और सूरज की तरह। बादल आते हैं उड़कर चले जाते हैं। लेकिन सूरज प्रतिदिन निकलता है और आकाश पर दिन भर राज्य करके आख़ीर में चला जाता है। उसका जीवन ही दिव्य और गौरवमय है। प्रातःकाल कंचन की थाली में उषा केसर लेकर उसका तिलक करने आती है और शायद कह देती है कि तुम्हें इतने बड़े आकाश की यात्रा करनी है। देखो, कहीं रास्ते में भटककर दूसरी जगह मत चले जाना। सूरज इस संदेश से शक्ति प्राप्त कर अपने दिन की लंबी यात्रा पूरी कर लेता है तो शाम को फिर उसका अभिनंदन होता है। उसके लिए चाँद का मंगल-कलश लिए हुए संध्या आती है और उसके पथ में लाल रेशम के वस्त्र बिछाकर स्वागत करती है। यही जीवन की सफल यात्रा है और सूर्य के इस अस्त में निर्वाण की शांति है।

अब जीवन की केवल एक बात रह जाती है। वह है आकस्मिक घटना या 'चांस' की। मैं आकस्मिक घटना को ऐसा ही समझता हूँ जैसे वर्षा के बीच में बिना कोई सूचना दिए हुए सूरज की किरण निकल आए और उससे एक सुन्दर रंगों की कविता लिए हुए इंद्रधनुष खिल जाय। अथवा बिना सोचे-समझे लकड़ी का कीड़ा मेरे नाम का पहला अक्षर 'रा' लकड़ी का भोजन करते हुए उसी पर लिख दे। जो व्यक्ति भाग्यवादी हैं वे कहेंगे कि यह भाग्य का फल ही है। जो भाग्यवादी नहीं हैं वे कह सकते हैं कि भाई, यह बात तो यों ही हो गई यद्यपि वे उसके कारण को ईमानदारी के साथ नहीं देख सकते। यहाँ मैं न तो भाग्यवादी की प्रशंसा करूँगा न अभाग्यवादी की निंदा। किंतु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जीवन में ऐसी आकस्मिक घटनाएँ कम नहीं होतीं। और ऐसी घटनाओं से मनुष्य को पूरा लाभ उठाना चाहिए।

मैं शक्ति और पुरुषार्थ में पूरा विश्वास रखते हुए भी भाग्य में आस्था मानता हूँ। इससे जीवन में एक संतोष का उदय होता है। मनोवैज्ञानिक रूप से यही क्या कम बात है कि सारी शक्ति लगा कर असफल होने पर निराशा का ज़हर हृदय में नहीं फैलता। एक गहरी साँस लेकर कह गुज़रता हूँ कि मेरी क़िस्मत में यही होना था। और

वह हुआ। यदि उस समय मैं निराश हो जाता हूँ तो जैसे मैं अपनी शक्ति की हत्या कर देता हूँ।

मैं देखता हूँ कि मेरे चारों ओर फूल खिल रहे हैं, झरने बहते चले जा रहे हैं और पहाड़ अपना माथा उठाकर मौन भाषा में कह रहे हैं कि हमारे हृदय में गुफाओं के गहरे घाव हैं, किन्तु हम खड़े होकर आकाश से बातें कर रहे हैं। सौन्दर्य, साहस और शक्ति के ये अग्रदूत मेरा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं, मुझे मेरे जीवन का रास्ता दिखला रहे हैं। फिर मेरा जीवन फूल की तरह खिला हुआ, निर्झर की तरह प्रगतिशील और पहाड़ की तरह महान् होने से कैसे रुक जायगा?

(रेडियो के सौजन्य से)

कविता का जन्म

कविता कैसे लिखी जाती है ? यह प्रश्न कवि के लिए जितना विचित्र है, आलोचक या पाठक के लिए उतना ही कौतूहल-जनक। प्रश्न करने पर कवि कह देगा कि मैं कैसे कहूँ कि मैं कविता किस प्रकार लिखता हूँ ! विचार उठते हैं, मैं उन्हें रोक नहीं सकता और कभी टहलते हुए, कभी बिस्तर पर लेटे हुए, शाम की धुँधली छाया में या उषा के खिलते प्रकाश में कुछ गुनगुनाता हूँ और कविता जिसे आप श्रेष्ठ कविता कहते हैं अपना रूप निर्माण कर लेती है। पाठक या आलोचक आश्चर्य में पड़ जाता है। वह कहता है : यह हो कैसे सकता है ! इतने सुन्दर विचार, ऐसी अमर कल्पनाएँ, ये स्मरणीय सूक्तियाँ इतनी आसानी से लिख कैसे जाती हैं ! कवि को न जाने कितना सोचना पड़ता होगा या उसकी साधना कितनी गहरी होगी ! वह न जाने किस लोक में विचरण करता होगा, तभी तो वह भाषा को छूता है और भाषा कंचन बन जाती है। और वह अपनी समस्त कुतूहलता अपने प्रश्न में भरकर पूछता है—कविता का जन्म कैसे होता है ? ऐसा ही प्रश्न आज मेरे सामने है।

मैं सोचता हूँ : इस प्रश्न का उत्तर किस प्रकार दूँ। आप चाहते हैं कवि आलोचक बन जाय और अपने मुख को शीशे में देखकर अपने नाक-नक्शे का वर्णन स्वयं करे, लेकिन वह अच्छे और बुरे का मापदंड कैसे निर्धारित करे ? हिन्दी साहित्य में तुलसीदासजी ही को लीजिए। उनकी कविता विश्व का श्रृंगार है, वे महाकवि हैं लेकिन जब उनकी कविता के संबंध में निर्देश आता है तो वे कहते हैं :—

कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

तुलसीदास ने यह केवल मात्र नम्रतावश ही कहा हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि यदि आप उनकी 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' का उत्तरकांड पढ़ें तो ज्ञात हो जायगा कि वे अपने विषय में कितनी सच्चाई और आत्मीयता के साथ अपने जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं या आत्मनिंदा के कितने स्पष्ट भाव व्यक्त करते हैं। कवि के दृष्टिकोण से उसकी कविता क्या है और संसार उसका क्या मूल्य समझता है, यह तुलसीदासजी की कविता को देखने से स्पष्ट ही ज्ञात हो सकेगा। यों तो संसार में अनेक कवि ऐसे भी हैं जो अपने को महाकवियों की श्रेणी में रखते हुए अपनी महानता

की घोषणा करते हैं और जो उनकी सराहना नहीं करते वे मनुष्यता की श्रेणी से भी नीचे गिरा दिए जाते हैं।

कविता के इतिहास में प्रथम कविता महर्षि वाल्मीकि के कंठ से क्रौंचवध के विषाद से नेत्र की अश्रुधारा के साथ निकली कही जाती है, किन्तु संसार में कविता की सृष्टि उस समय से आरंभ हो गई होगी जब करुणा, आकर्षण और आत्म-समर्पण की तीनों भावनाओं ने कवि के हृदय में एक ऐसी विह्वलता भर दी होगी जिसे वह अपने हृदय में सँभाल नहीं सका होगा और ये तीनों भावनाएँ त्रिवेणी की भाँति एक होकर भाषा के पथ पर बढ़ी होंगी।

कविता का यही आदि स्रोत है। मैं यह सब आलोचक के नाते कह रहा हूँ, यदि कवि रूप से कहना पड़े तो उसकी मीमांसा करने का अवकाश मेरे पास न होगा। कविता कैसे लिखी जाती है यह सचमुच में टेढ़ा प्रश्न है। इसका उत्तर केवल इस रूप में दिया जा सकता है कि कविता लिख चुकने के पहले या बाद मन की जो परिस्थिति रह जाती है उससे कविता लिखने के समय की परिस्थिति की कल्पना की जाय। जैसे बाढ़ के उतर जाने पर किनारों पर बने हुए लहरों के चिह्न रह जायँ और उनसे लहरों के आन्दोलन की कल्पना की जाय। मैं इसी मार्ग के सहारे, संभव है, अपने मन का चित्र आपको दे सकूँ।

अनेक बार ऐसा हुआ है कि बड़ी घटनाएँ मुझे प्रभावित नहीं कर सकीं और छोटी से छोटी घटनाओं ने मुझे लिखने के लिए विवश कर दिया है। ऐसा क्यों हुआ है, मैं नहीं कह सकता। संभव है, मेरी मानसिक परिस्थितियों में बड़ी घटनाओं ने गहराई तक जाने की शक्ति न पाई हो और छोटी घटनाएँ मन में पूरी तरह पैठ गई हों। बात कुछ वैसी ही रही हो जैसे पेंसिल बनाते समय चाकू लगने से उतना दर्द नहीं होता जितना अनायास आलपीन के चुभने से हो जाता है। जब तक खून उँगली पर नहीं बह निकलता तब तक तो चाकू का लगना एक तीखी कटन लेकर ही रह जाता है। लेकिन आलपीन के चुभने से तो रोम-रोम सिहर उठता है। उसी प्रकार छोटी घटनाएँ कभी-कभी दिल हिला देती हैं, वे नावक के तीर की तरह गम्भीर घाव कर देती हैं।

जैसे ही यह घटना हृदय पर आघात करती है वैसे ही मन में एक गम्भीरता आ जाती है, चाहे जितने विनोद की घटना हो। वह जब लेखनी से उतरने के लिए मचलने लगती है तो मन में गम्भीरता आ ही जाती है। क्योंकि तब वह विनोद अपना अंतरंग भाग अधिक से अधिक बढ़ाने की चेष्टा करता है, अपना निर्माण करने लगता है और मन उसे स्वाभाविक से भी अधिक आकर्षक रूप देने के लिए कुछ सोचने

लगता है। दूसरे शब्दों में यह कह लीजिए कि जीवन की यह स्वाभाविकता कला का सहारा खोजने लगती है और अपने रूप को अमरत्व प्रदान करने के लिए बड़ी से बड़ी भावना की भूमि पर फैल जाना चाहती है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि फिर आपके मन में विचार किस तरह आते हैं? मैं स्वयं नहीं जानता कि विचार किस तरह और कहाँ से उठते हैं लेकिन इतना अवश्य कह सकता हूँ कि घटना जब मन पर चोट करती है तो मन में विचारों की क्रिया और प्रतिक्रिया उसी तरह आरंभ हो जाती है जिस तरह बारूद की बत्ती में आग लगाने पर आग बारूद के कणों को जलाते हुए आगे बढ़ने लगती है और बारूद के कण जैसे उस आग को खींचते हुए अपने प्राणों तक ले जाना चाहते हैं। विचारों में एक क्रान्ति सी होने लगती है और वे एक दूसरे से संघर्ष करते हुए आगे आने की चेष्टा करने लगते हैं। इस चेष्टा में ऐसा भी सम्भव हो जाता है कि तत्काल उठे हुए विचारों में ऐसे विचार भी उठते चले आते हैं जो बरसों पहले किसी विशेष परिस्थिति में किसी विशेष घटना-स्थल पर उठे थे। मैं यह तो कह सकता हूँ कि जब काश्मीर में प्रकृति की चित्रशाला में बैठ कर मैं 'हिम-हास' लिख रहा था, उस समय प्रकृति का चित्र उपस्थित करते समय मेरे मन में वे स्मृतियाँ भी जाग उठी थीं जो मैंने बुंदेलखंड के पर्वतीय प्रदेशों के सौन्दर्य का अवलोकन करते समय प्राप्त की थीं। ये स्मृतियाँ प्रधान चित्र की सहायिका मात्र होकर आती हैं और संचारी भावों की तरह स्थायी भाव को बल देती रहती हैं। भावों के इन्हीं संघर्षों और आन्दोलनों में मन खो जाता है और वह आनन्द में झूमने लगता है। यह आनन्द मन को समस्त परिस्थितियों से ऊपर उठा देता है और वह भूल जाता है कि मैं क्या और कैसे लिख रहा हूँ। तब भावनाएँ उसकी स्वामिनी बन जाती हैं और वह एक स्टेनोग्राफ़र की तरह अपनी स्वामिनी के भावों और शब्दों को ही नहीं, उसकी भृकुटि-भंगिमा को भी लिखता चला जाता है। उसमें वह आत्म-विस्मृत हो जाता है तथा कविता और उसमें एक तादात्म्य-सा स्थापित हो जाता है। फिर यह जिज्ञासा उठती है कि कविता कैसे बन जाती है! मैं यही कह सकता हूँ कि इन विचारों में डूबकर जो मुख्य संवेदना कवि को मिलती है उसी के सूत्र को पकड़ कर वह अपनी प्रधान भावनाओं पर पैर रखता हुआ आगे बढ़ता जाता है और काव्य-रचना के शिखर पर पहुँच जाता है। जिस प्रकार मेरी छोटी बिल्ली मिनी पलँग से झूलते हुए नमदे के एक छोर पर अपने तेज़ नाख़ून गड़ा कर ऊँचे पलँग पर चढ़ जाती है। कवि को मैं ऐसी उपमा नहीं देना चाहता था लेकिन वस्तुस्थिति का चित्र कुछ ऐसा ही है। ऊपर ले जाने वाले भावों के क्रम में कल्पना बिना प्रयास ही आगे बढ़ने लगती है और चित्र वैसे ही पूर्ण

हो जाता है जैसे शैशव के कोमल चरणों में यौवन की मादकता आ जाती है। जिस प्रकार समय की गति अप्रतिहत रूप से बिना किसी को जतलाए हुए चलती जाती है और हम चौंककर कह देते हैं, अरे इतनी जल्दी इतने वर्ष बीत गए, उसी तरह कविता शैशव की चपलता से उठकर अनायास यौवन में सुसज्जित हो जाती है। यहाँ मैं उन कवियों की बात नहीं कहता जो 'जमक' को जमाने के लिए या श्लेष का प्रवेश कराने के लिए शब्दों की बनावट और उनकी ध्वनि को मन की तराज़ू पर तौलते रहते हैं और शब्दों की प्रदर्शिनी सजाने के लिए घंटों प्रयास करते हैं। जो कविता का वरदान उसके स्वाभाविक रूप में पाते हैं वे तो कविता में उसी प्रकार बहते चले जाते हैं जैसे दीपदान में संजोया हुआ दीपक प्रवाह में नाचता हुआ चला जाता है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो जायगा कि कविता का परिश्रम से कोई संबंध नहीं है। उसके लिखने में प्रयास करना तो वैसी ही बात मालूम होती है जैसी गोपियों ने उद्धव से कही थी :

हम तें हरि कबहूँ न उदास,
तुम सों प्रेमकथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास

मेरे दृष्टिकोण से 'प्रेमकथा' के स्थान पर 'कविता' आसानी के साथ रक्खी जा सकती है और परिश्रम करके लिखी हुई कविता घास काटने की क्रिया ही कही जा सकती है।

कविता किस प्रकार लिखी जाती है इसका कुछ संकेत गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' में किया है। वे लिखते हैं :

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जो बरषै बर बारि बिचारू। होहि कबित मुक्ता मनि चारू॥

हृदय तो सागर के समान है, और मति या कविता की भावना सीप के समान है जो हृदय-सागर में डूबी हुई है। काव्य की प्रतिभा या सरस्वती स्वाती नक्षत्र के समान है। यदि इस अवसर पर सुंदर विचारों का जल बरस जाय तो उस भावना रूपी सीप में कविता का मोती बन जाय। सीप में मोती का निर्माण एक अवसर-विशेष की बात है और यदि कहीं सौभाग्य से ऐसा अवसर आ जाय तभी कविता की सृष्टि हो सकती है। श्रेष्ठ कविता भी संयोग से ही बनती है। वह भी प्रतिभा के किसी अवसर-विशेष पर जाग्रत होने पर।

अतः मैं कविता को एक दैवी वरदान मानता हूँ जो किसी सुयोग से ही व्यक्ति-विशेष को मिलता है। यों तो लिखने में कितनी ही लेखनियाँ घिस गई हैं किंतु वास्तव

में वही लेखनी सार्थक है जिससे श्रेष्ठ कविता अनायास ही निकल जाती है। अपनी कविता के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है, किन्तु भावनातिरेक में मैंने जो कविताएँ लिखी हैं उनमें से एक कविता उपस्थित करता हूँ :

प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे जग के कण कण में क्या बिखराऊँ
शब्दों के अधखुले द्वार से
अभिलाषाएँ निकल न पातीं
उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर
इच्छाएँ चल कर थक जातीं
आह, स्वप्न संकेतों से मैं कैसे तुमको पास बुलाऊँ
प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ

जुही सुरभि की एक लहर से
निशा बह गई डूबे तारे
अश्रु-बिन्दु में डूब डूब कर
दृग-तारे ये कभी न हारे
अपने दुख की इस जाग्रति में तुम्हें जगा कर क्या सुख पाऊँ
प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ

अन्त में मैं यही कहना चाहता हूँ कि कविता बिना किसी परिश्रम के आप से आप हृदय में उठती है और रात्रि के निरभ्र आकाश में चमकते हुए तारों की भाँति फैल कर सारे आकाश को व्याप्त कर लेती है। किसी भी कारीगर को चाहे वह देवता ही क्यों न हो एकएक तारे को आकाश में ठोक कर जड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सारे तारे एक साथ ही निकल आते हैं जैसे किसी ने रत्नराशि के सामने का परदा हटा दिया हो और हमारी आँखें इस सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित हो गई हों।

(रेडियो के सौजन्य से)

मेरा दृष्टिकोण

मैं अपनी कविताओं का संकलन आपके सामने रख रहा हूँ। इन कविताओं में मेरे जीवन की अभिव्यक्ति है और समय-समय पर ये कविताएँ लिखकर मैंने संतोष की साँस ली है। अपने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कविताएँ लिखी हैं वे उन क्षणों की रेखाएँ हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है—ऐसे जीवन की जो अत्यन्त पवित्र क्षण से उत्पन्न हुआ है। मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसीलिए मैंने किसी हलके क्षण में कविता नहीं लिखी। अपने काव्य-जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोंक पर आ बैठती है। संभवतः यही कारण है कि मैं भौतिक शृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के क्रोड़ में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती है।

उल्लास की प्रथम कविता उस समय लिखी गई होगी जब किसी सुकुमार शिशु को सुलाने के लिए ममतामयी जननी ने वात्सल्य से आर्द्र स्वर छेड़ा होगा और प्रथम छन्द की गति पालने के भूलने में उत्पन्न हुई होगी। करुणा की प्रथम कविता उस समय बनी होगी जब बादल में अपनी प्रियतमा की मूर्ति देखकर किसी प्रेमी ने उसे पकड़ने की चेष्टा की होगी और बादल दूसरे ही क्षण अन्तरिक्ष के किसी कोने में दुबक गया होगा। कविता मानव-जीवन के अन्तराल से उसी प्रकार निकली होगी जैसे लज्जा से अरुणिमा। जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है। जीवन के रंगीन और वास्तविक स्वप्नों के निर्माण में कविता की प्रेरणा है और जब इन सजीव स्वप्नों से रहित होकर कविता अपना प्रदर्शन करती है तब वह ऐसी अप्सरा हो जाती है जिसके पास केवल रूप ही रूप है, हृदय का उष्ण स्पन्दन नहीं। उसने अपने अस्तित्व को केवल रूप में ही लीन कर दिया है। प्रभातकाल की भाँति उसके पास केवल कंठ का कलरव है जो दो घंटों में समाप्त हो जाता है। रेशम के कीड़े की भाँति उसने अपने ऊपर कोमलता का ताना-बाना गूँथ रक्खा है। वह उसे काटकार नहीं निकल सकती, वह उस कीड़े से भी हीन है। साहित्य के शव पर बैठ कर कला का यह कापालिकत्व किसी कपाल-कुण्डला को वश में नहीं रख सकता।

मनुष्य के हृदय का साम्राज्य कितना व्यापक है ! संसार में फैले हुए किसी भी राष्ट्र से अधिक इसकी परिधि है। किन्तु इस साम्राज्य की सीमा छूने का प्रयत्न भी हमारे विज्ञान का भौतिकवाद नहीं करना चाहता। वह अपने जड़वाद में पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है। यों उसने हमें जीवन की अनेक सुविधाएँ दी हैं किन्तु क्या उससे हमारी आत्मा में जागृति आ सकी है ? इन्द्रियों के विषय उसके द्वारा हमें सहज ही प्राप्त हो गए हैं किन्तु क्या वासनाओं की पूर्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है ? हमारी इच्छाओं की अंगूरी बेल को ऊपर चढ़ने का सहारा उसके द्वारा अवश्य मिला है किन्तु इससे हमें मादकता के अतिरिक्त और क्या मिला ? हमने इसकी शक्ति से सांसारिक आनन्द के निर्जीव शव को गोद में उठा लिया है, उसके प्राण की उपेक्षा की है। मिट्टी के ढेले पर हम रीझ गए हैं, उसके अन्तर्गत रंगीन फूल के बीज पर नहीं। स्पर्श का चरमोत्कर्ष हमारे लिए प्रेम का प्रमाण-पत्र बन गया है। हम अपने स्वार्थ की रोटी खाकर बीमार होने की सीमा तक पहुँच गए हैं और अपनी ओषधि में भी वही रोटी चाहते हैं। यह विज्ञान हमारे समस्त सुखों का कोषाध्यक्ष होना चाहता है; जीवन की इकाई में आडंबरों के शून्य जोड़ कर वह सहस्रों का गुमान करना चाहता है। वह इतना दुष्ट है कि संसार को बिगाड़ने के लिए ही बार-बार बनाता है। उसकी अग्नि से विनाश की अग्नि जल सकती है किन्तु वह आश्चर्य का प्रकाश बन कर हमें आकर्षक किरणों से लुभाता है। अपने रेखा-चित्रों में उसने ब्रह्म के लिए कोई चिह्न भी नहीं बनाया। केवल लम्बाई चौड़ाई और मोटाई में वह आत्मा को नापना चाहता है। वह ऐसी स्याही का धब्बा है जिसके नीचे आत्मा की रेखा छिप गई है।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा बुद्धिवाद सृष्टि के कण-कण में व्याप्त स्नेह और पारस्परिक हित की भावना खोजे। वह अपनी हँसी के हाथों से जीवन का द्वार खोलना सीखे। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य मनुष्यत्व को भूल कर देवता होने की चेष्टा में राक्षस बनने जा रहा है। कुर्सी पर बैठकर वह चपरासी को भूल गया है, मोटर पर चढ़कर उसे राहगीरों से घृणा हो गई है, थियेटरों में जाकर वह अन्धे गायक को भूल गया है। वह हँसता है लेकिन अपनी हँसी को नहीं समझ सकता। उसने अपनी हँसी में यह भी नहीं खोजा कि यह किसने गुदगुदाया है! आज का मनुष्य बुद्धिवाद की कसौटी पर स्नेह के फूल को कसकर परखना चाहता है। वह अपनी इन्द्रियों से आत्मा में चेतनता लाना चाहता है। किसी ने राख से भी कभी दीपक जलाया है ?

अरब में एक जादूगर था। वह अफ़रीका के जलते हुए मरुस्थल की ज़मीन

से कान लगाकर बग़दाद के फ़र्श पर चलने वाले प्रत्येक बच्चे के पैरोंकी ध्वनि पहचान जाता था और शैतान लड़कों के नाम गिनाता जाता था। वह कहता था उसमें यह ईश्वर-प्रदत्त शक्ति थी। कवियों में भी यही शक्ति है। यदि वे भौतिकवाद की जलती हुई ज़मीन पर कान लगाकर हृदय की सरल और सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनना चाहें, तो सुन सकते हैं। उन्हें जीवन की क्रूर प्रवृत्तियों से मनुष्यत्व का सन्देश निकालकर घोषित करना है। उनके ऊपर एक उत्तरदायित्व है और इस बुद्धिवाद के युग में तो यह उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है।

आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय होता है। "मैं" चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण करता है और भावना के किसी विशेष दृष्टि-विन्दु में 'सब' 'मैं' में आकर संकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाएँ विश्व की समस्त गति में अबाध रूप से बहती हैं और समस्त सृष्टि का संगीत एक कण के कंपन में स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति में विलीन कर देता है उस समय सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी में फूट निकलते हैं। वह अपनी भावनाओं के भीतर किसी प्रजापति को देखता है जो क्षण-क्षण में संसार का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं, दृश्य और अदृश्य उसे अपने संगीत से ओतप्रोत कर देते हैं। समस्त जगत हृदय में गतिशीलता भरकर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह गतिशीलता ध्वनि और छन्द में प्रकट होती है। प्रकृति के समस्त रहस्यों को अपनी पदावली में केन्द्रीभूत कर कवि स्वयं स्रष्टा के रूप में हो जाता है। वह संसार को उसके वास्तविक स्वरूप का सन्देश देता है। संसार को आश्चर्य होता है अपने ही उस महान् सौन्दर्य पर जो उसमें इतने काल से छिपा हुआ था। अतः इस छिपे हुए सौन्दर्य को कविता में स्पष्ट कर देना ही कवि का महान् धर्म है। कवि साधारण मनुष्य से भिन्न होता है। वह जानता है कि किस प्रकार वह अपने को प्रकृति की गतिशीलता में लीन कर दे और उसके सहारे वह उसके कोने-कोने से परिचित होकर उन तथ्यों को प्रकाशित करे जिनसे जीवन बना हुआ है—जिनसे सौन्दर्य में आनन्द की सृष्टि हुई है। सौन्दर्य में इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का चरम आदर्श है।

आनन्द का प्रादुर्भाव करने के लिए कवि किस प्रकार सौन्दर्य में प्रवेश करता

है ? कवि की अनुभूति भावना के किसी केन्द्र-विन्दु पर जाकर तीक्ष्ण बन जाती है जिससे वह रहस्य के भीतर धँस सके। जब तक कवि अपनी भावना में केन्द्र-विन्दु स्थापित नहीं करेगा, वह किसी सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। एक कील को ही लीजिए। वह अपनी समस्त शक्ति अपनी नोंक में इस प्रकार एकत्रित कर लेती है कि थोड़ी सी ही गति पाने पर वह किसी पदार्थ में धँस जाती है। दूसरी ओर लोहे की मोटी छड़ अपनी शक्ति को किसी केन्द्र-विन्दु पर न रख सकने के कारण ही मोटी और ठंठ पड़ी रहती है। वह ठोकने पर भी किसी चीज में प्रवेश नहीं पा सकती। कवि अपनी भावना का केन्द्र-विन्दु अत्यन्त सूक्ष्म बना लेता है और सरलता से प्रकृति के सौन्दर्य में प्रवेश पा लेता है। वहाँ जाकर वह प्रकृति की सौन्दर्यशाला से वे रत्न उठा लाता है जो संसार के ऊपरी धरातल पर चलने वालों को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकते।

जब हम अपने दैनिक जीवन के सुख-दुख को इस सौन्दर्य में तिरोहित कर लेते हैं तो हमें उस आनन्द के दर्शन होते हैं जिसमें कली फूल में परिणत होती है और फूल अपना विकास फल में करता है। हम उस विश्व-आनन्द के समीप पहुँच जाते हैं जिसमें काले बादल से विद्युत चमक उठती है और जल नदियों के सहारे महासागर में पहुँचकर अपनी सीमा से मुक्ति पा जाता है। साधारण मनुष्य अपनी दिशा भूल कर—पथ-भ्रष्ट होकर अपने ही मनोविज्ञान में दुःख की सृष्टि करता है। यदि वह एक क्षण भर के लिए मौन हो जाय और अन्तरात्मा की पुकार सुन सके तो उसे ज्ञात होगा कि उसका सुख उसके कार्य-कलाप में नहीं है, उसका सुख है अपने 'अहं' को भूल जाने में—अपने को असीम बनाने में। इसीलिए तो बौद्धमत में 'शून्यवाद' का महत्व है। धर्मकाय की अनुभूति में मनुष्य की चेतना इस प्रकार अवस्थाहीन हो जाय कि उसका किसी से और किसी का उससे कोई स्पर्श न रह जाय। वह एकमात्र 'शून्य' हो सर्वत्र संचरित हो सके। इस 'शून्यवाद' में ही वास्तविक आनन्द है, उसीमें क्लेश से मुक्ति है। फिर जिस प्रकार तलवार के प्रहार से जल नहीं कट सकता उसी प्रकार संसार की कोई भी विषम परिस्थिति उसके आनन्द के प्रवाह को नहीं काट सकती। परिस्थिति यह है कि अपनी ही सीमा में घिरा हुआ व्यक्ति अपने ही 'अहं' की प्रतिध्वनि पाकर भयभीत हो उठता है और वह दुःख का अनुभव करने लगता है। यदि वह अपनी परिधि तोड़कर शून्य हो जाय—मुक्त आकाश हो जाय—तो उसकी ध्वनि निकलकर असीम में गतिशील हो जाय और वह समष्टि में ही निर्विकार होकर संचरण करने लगे। यही भावना रहस्यवाद का प्रवेश-द्वार है।

मेरा दृष्टिकोण

रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। मैं 'ऐक्य' ही कहता हूँ 'एकीकरण' नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद में है और ऐक्य की भावना रहस्यवाद में। अद्वैतवाद और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बन कर आत्मा में जाग्रत रहता है। जब एक जल-विन्दु अनन्त जल-राशि में मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। यह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना रहते हुए भी व्यक्तित्व की यह सूक्ष्म जाग्रति रहती है कि "मैं मिल रहा हूँ।" आत्मा विश्वात्मा से मिलकर भी यह कह सकती है कि "मैं अपने लाल की लाली जहाँ देखती हूँ वहीं पाती हूँ। जब मैं उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मैं भी लाल हो जाती हूँ।" यहाँ मैं और लाल में एकता होते हुए भी दोनों का अस्तित्व-ज्ञान अलग-अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'दो पक्षियों' का रूपक देकर आत्मा और ब्रह्म की अलग सत्ता निरूपित की गई है।[1]

जलालुद्दीन रूमी ने भी आग और तपे हुए लोहे के लाल गोले के रूपक से रहस्यवाद की भावना स्पष्ट की है। जब लोहे का गोला आग से लाल हो जाता है तब उसमें भी आग का गुण आ जाता है, वह किसी को भी जला सकता है किन्तु आग से लाल हो जाने पर भी वह लोहे का गोला तो रहता ही है। उसे हम आग भी कह सकते हैं और नहीं भी कह सकते क्योंकि अन्ततः वह आग के अतिरिक्त लोहे का गोला भी है। अतः वह आग है भी और नहीं भी है। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म के गुणों से ओतप्रोत हो जाने पर ब्रह्म है भी और नहीं भी है। इसमें 'व्यक्ति' का विनाश न होकर उसका विकास है! गुण का लोप न होकर ऐक्य है।

इस प्रकार रहस्यवाद में जीवात्मा की स्थिति एक विरोधात्मक भावना उत्पन्न करती है। जब साधक के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति होती है तो वह ब्रह्म में लीन तो

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६ ॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४-६-७)

अवश्य हो जाता है लेकिन लीन होने की भावना को भी जानता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में मोमबत्ती। यद्यपि मोमबत्ती सूर्य के प्रकाश में लीन तो हो जाती है तथापि उसका अस्तित्व भी है क्योंकि वह जलती जो है।[1] वह सूर्य के प्रकाश में नहीं भी है और है भी। यही रहस्यवाद की भावना है। साधिका आत्मा ब्रह्म की लाली में मिलकर भी कहती है लो, 'मैं भी लाल हो गई।'

इस प्रकार रहस्यवाद ब्रह्म की महान् अनुभूति में भी व्यक्तित्व की भावना सुरक्षित रखता है। रहस्यवाद से यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म की शक्ति अपरिमित होकर साधक की शक्ति से उच्चतर है। वह अन्तर्व्यापी होते हुए भी सर्वोपरि है। अन्तर्व्यापी इस रूप में कि वह संसार के कण-कण में वर्तमान है। कणों में व्याप्त इसी ब्रह्म को साधक खोज कर पहचान लेता है। और सर्वोपरि इस रूप में कि साधक के द्वारा हृदयंगम हो जाने पर भी ब्रह्म की सत्ता श्रेष्ठतर रहती है। जिस प्रकार बहुरंगी पक्षी जल में सौ बार डूब कर भी अपने पंखों का रंग नहीं खोता, उसी भाँति सर्वोपरि ब्रह्म संसार में अनेक बार प्रवेश कर भी अपनी उच्चता सुरक्षित रखता है। इसीलिए सूफीमत में हक़ को 'लाहूत' और 'नासूत' इन दो गुणों से विभूषित किया गया है। लाहूत का संबन्ध हक़ की आध्यात्मिक शक्ति-संपन्नता से है और नासूत का सम्बन्ध सांसारिकता से। ब्रह्म संसार में रहते हुए भी संसार से परे है। यह बात साधक में नहीं होती, अतः ब्रह्म के समक्ष वह अप्रधान है। इसीलिए साधक अपने संपूर्ण आत्म-समर्पण के साथ ब्रह्म के समीप पहुँचता है। वह अपनी गतिशीलता में ब्रह्म के समान अवश्य ज्ञात होने लगता है जिस प्रकार गति में एक विन्दु भी रेखा बन जाता है। और आग की एक चिनगारी अपनी गतिशीलता से सूर्य का मण्डल बना लेती है लेकिन अन्ततः वह अपने वास्तविक रूप में एक विन्दु या चिनगारी ही है। इस रहस्यवाद की भावना में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम ही आत्मा को ब्रह्म के समीप ले जाता है और आत्म-समर्पण में परिणत होता है। इस प्रेम में स्वार्थ या आत्म-तुष्टि की भावना नहीं होती, इसमें होती है एकमात्र अपनी अभिव्यक्ति। इसी अभिव्यक्ति में आत्मा ब्रह्म में जीवित रहती है जैसे एक तारा पूर्णिमा के चन्द्र के प्रकाश में अपना आत्म-समर्पण करते हुए भी आकाश में चमकता है।

प्रेम का प्रादुर्भाव विवेक में नहीं है। उसकी उद्भावना भाव में है। इसीलिए

---

१. नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं।
(मेरी 'किरण-कण' शीर्षक कविता)

प्रेम के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, वह तो आत्मा का अत्यन्त मधुर संगीत है जिसकी तरंग में व्यष्टि समष्टि में परिणत होता है। विवेक तो शैतान है जो साधक को भावना-पथ से दूर ले जाकर तर्क की मरुभूमि में छोड़ देता है। इसलिए रहस्यवाद में ज्ञान और विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। अनुभूति के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है जीवन के निकटतम स्पर्श की और यह स्पर्श प्रेम की अत्यन्त मादक और तीव्र शक्ति से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रेम की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम में है। अन्य प्रकार का प्रेम किसी न किसी परिस्थिति में अपूर्ण है, इसकी पूर्णता एकमात्र दाम्पत्य सम्बन्ध में है। आत्म-समर्पण की भावना इसी दाम्पत्य प्रेम में फलीभूत होती है। साधक का रोम-रोम एक-एक वाणी बनकर अपने हृदय की विह्वलता का परिचय दे सकता है। इस प्रेम के आलोक में करुण से करुण भावनाएँ भी एक अनिर्वचनीय उल्लास से ओतप्रोत रहती हैं, इसीलिए तो मारगेरेट स्मिथ ने कहा है—रहस्यवादी के लिए यह प्रेम जीवन की मदिरा है जिसमें उल्लास का नशा है, जिसने यह मदिरा पी वह सब प्रकार से कृत-कृत्य हुआ।[1]

कबीर के प्रेम में मादकता, उल्लास और संगीतात्मकता यथेष्ट मात्रा में हैं। वह जीवन के अन्तर्तम प्रदेश का स्पर्श करता है। वह हृदय की संपूर्ण भावनाभिव्यक्ति से सत्य के समीप पहुँचता है। इस प्रेम में संयोग और वियोग दोनों के चित्र हैं। लेकिन यह संयोग और वियोग शारीरिक पुकार का रूपक होते हुए भी इससे परे है। इससे आत्म-जिज्ञासा के साथ आत्म-सुख भी है। इस प्रेम में उत्सर्ग ही प्राप्ति है और मरण ही जीवन है। इसी विचार को लेकर तो ईशावास्योपनिषद् ने 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" की कल्पना की है। अतः इसमें बुद्धिवाद के लिए स्थान नहीं है किन्तु यह इतना व्यापक है कि भाषा की भुजाओं से पकड़ा नहीं जा सकता। इसी भावना में जीवन नये-नये अंकुरों में निकलता है, सन्देह और भ्रम की मिट्टी उसका मार्गावरोध नहीं कर सकती। एकमात्र आराध्य के प्रति भावना का चरमोत्कर्ष ही प्रेम की परिभाषा है। कबीर कहते हैं—

नैनां अंतरि आव तूं ज्यूँ हौं नैन झँपेउँ।
ना हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देउँ॥[2]

---

१. स्टडीज़ इन अरली मिस्टिसिज़्म, पृष्ठ २५१-२५२

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६

जब इसी प्रेम में विरह की पीड़ा उठती है तब तो संसार की समस्त करुणा जैसे कण-कण में विभाजित होकर ओस की भाँति द्रवित हो उठती है। आत्मा विरहिणी की भाँति चीत्कार कर उठती है। विश्वात्मा एक निष्ठुर प्रेमी की भाँति दृष्टिगत होता है जो प्रेम करने की क्षमता लिए हुए भी प्रेम नहीं करता। उसे प्रसन्न करने के लिए शरीर नष्ट करना भी साधारण सी बात है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म अलौकिक धरातल से नीचे आकर एक व्यक्ति की भाँति ज्ञात होने लगता है। वह सरलता से मानव-हृदय की समझ में आने लगता है। प्रेमी अपने ब्रह्म को अपने ही क्षेत्र में लाकर उससे प्रेम करना चाहता है। कबीर ने रहस्यवाद में आत्मा को विरहिणी का रूप देकर अपने निराकार ब्रह्म को भी व्यक्तित्व के अन्दर सीमित कर दिया है। वे कहते हैं :

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुव मिलन कूँ मन नाहीं विश्राम॥[1]

इस प्रेम में प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है—चातुर्य की भी नहीं। इसमें तो निश्छल भाव से अपने आराध्य की अत्यन्त सरलता से अनुभूति होनी चाहिए। कपट के लिए तो कहीं स्थान ही नहीं है। अपने को उच्च आसन पर अधिष्ठित कर प्रेम करने की प्रवृत्ति कमरे में ऊँट खोजने के समान है। रूमी ने अपनी मसनवी में इस सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक बात कही है। एक राजा अपने महल में सो रहा था। आधी रात को उसे कमरे में कुछ आहट मिली। उसने जाग कर पूछा—कौन है? आवाज आई कि हम लोग अपना ऊँट खोज रहे हैं। बादशाह ने कहा—ऊँट? क्या ऊँट इस कमरे में है? उन लोगों ने कहा कि हम लोग इस कमरे में उसी तरह ऊँट खोज रहे हैं जैसे तू ऊँचे तख्त पर बैठकर ईश्वर से मिलने का इरादा कर रहा है।[2]

अपने आराध्य की खोज में तो सांसारिक वैभव का साहचर्य ही नहीं है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८

२. सरफ़रो करदन्द क़ौमे बुल अजब।
मा हमी गरदेम शब बहरे तलब॥
हैं चे मी जोयेद गुफ़तन्द उशतराँ।
गुफ्त उशतर बाम बर के चुस्त हाँ॥
पस बगुफ्तन्दश कि तू बर तख्ते जा।
चूं हमी जोई मुलाक़ाते इला॥ (मसनवी—जलालुद्दीन रूमी)

हृदय की अत्यन्त कोमल और नम्र भावना में ही अपने आराध्य से मिलन होता है। प्रेम में हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर देने की आवश्यकता है। पत्थर धूल होकर हवा की गति में मीलों उड़ जाता है। अपने गुरुत्व के बोझ में तो वह जड़ होकर पृथ्वी की छाती पर भार होकर पड़ा रहता है। जिस प्रकार मैली रुई धुनने से सफेद हो जाती है उसी प्रकार हृदय को खंड-खंड करने से उसमें पवित्रता आ जाती है। इसीलिए तो करुणा प्रेम की सहायिका हो जाती है। यह करुणा की बाँसुरी उसी की सहचरी है जो वियोगी है। वह इसीलिए रोती है कि उसमें प्राण फूँक दिए गए हैं। बाँसुरी का एक मुख प्रियतम के ओष्ठ में है, दूसरा नीचे। एक मुख से वह अधरामृत पान करती है दूसरे मुख से क्रन्दन। सम्भवतः दूसरा मुख इसीलिए क्रन्दन करता है कि वह अपने आराध्य के मुख में नहीं है। प्रेम में अपने आराध्य के वियोग में आत्मा का यही रुदन है। उस प्रेम में सुखों की पूर्ण उपेक्षा है। प्रेम की विरहणी को प्रासादों में भी खँडहरों की दुर्गन्धि आती है। वह एकाकिनि होकर ख़ुद खोजना चाहती है, किसी परिचारिका को साथ नहीं लेती। वह अपने हृदय के सितार पर अनुराग की ऐसी गत बजाती है कि उसका समस्त अस्तित्व ही अनुराग से गूँजने लगता है फिर अपनी गतिशीलता में वह ब्रह्म से मिल जाती है क्योंकि ब्रह्म स्वयं अनन्त गतिशील है। और इस गतिशीलता में लीन हो जाना ही उसकी साधना का पुरस्कार है। जिस प्रकार बीज अपनी अंकुरित रेखा में एक से सहस्र हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म में प्रतिफलित होती है।

इस प्रेम और करुणा में सहोदर सम्बन्ध है। सच्चे प्रेम की प्रस्तावना में करुणा आ जाती है और करुणा से प्रेम का वास्तविक सौंदर्य निखर आता है, जैसे ओस से धुल जाने पर फूल और भी सुन्दर दीख पड़ता है। इस प्रेम से करुणा फूल से सुगन्धि की भाँति फूट निकलती है। वह उधार नहीं ली जाती। विशुद्ध ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रेम में उसी भाँति हो जाती है जैसे आनन्द की अभिव्यक्ति संगीत में है, विकास की अभिव्यक्ति जीवन में है। इस प्रकार रहस्यवाद में निम्नलिखित तत्व निहित हैं—

(१) आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता हो अर्थात् आन्तरिक दृष्टि से वह अपने आराध्य को खोजने के लिए सूर्य की किरण की भाँति सर्वत्र गतिशील हो। वह अपनी यात्रा में दिशाओं को इसी पार छोड़ कर आगे बढ़ जाय। वह सप्ताकाश से भी ऊपर जाने की क्षमता रखे।

(२) उसमें अपने आराध्य से मिलने की भावना का स्मरण रहे। आत्मा और आराध्य में ऐक्य हो, एकीकरण नहीं। आत्मा के व्यक्तित्व का विनाश न होकर विकास हो।

(३) आत्मा और आराध्य में प्रेम निश्छल रूप से प्रगतिशील रहे। इस प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना है। दाम्पत्य प्रेम के अनुरूप ही इसमें संपूर्ण व्यक्तित्व अनुराग से ओत-प्रोत हो उठे।

रहस्यवाद की कविता इन तीनों तत्वों को लेकर एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है। यह आत्मा की सबसे पवित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण में यही रहस्यवाद रहा है और इसी में मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।

मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ। कविता भावना के संघर्ष में चिनगारी की भाँति फूट निकलती है। सुख की अपेक्षा दुःख में प्राणों का अधिक स्पन्दन होता है और प्राणों के स्पन्दन के साथ ही कविता गूँज उठती है। यही कारण है कि सूरदास संयोग-शृंगार का उतना कवित्वमय चित्रण नहीं कर सके जितना वियोग-शृंगार का। दुःख में कविता स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाती है। सांसारिक जीवन के साथ तो दुःख उसी प्रकार है जैसे दीपक के चमकीले वस्त्र के भीतर जलन। मनुष्य दर्पण होकर भी अपनी परछाईं में बैठा है। वह दर्पण के पीछे बैठ कर अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहता है। और यहीं दुःख का आरंभ होता है। इस प्रकार दुःख कविता की बड़ी प्रेरक शक्ति है। उसीमें जीवन का विवेचन है और अभाव का संकेत। एक कवि यह सब स्वाभाविक रीति से कह जाता है, उसे किसी प्रकार भी प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रयास में कविता नहीं है—कविता का भ्रम है।

आधुनिक समय के कवि छन्द को कविता का बन्धन मानते हैं। वे मुक्त वृत्त में अपनी भावनाओं को उँड़ेल कर निर्द्वन्द्व रूप से कविता लिखे चले जाते हैं। यह स्वतंत्रता उन्हें भावों के प्रकाशन में स्वच्छन्दता भले ही प्रदान करे किन्तु यह कविता के नादात्मक रूप की, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा करती है। कविता की विशेषता तो इसीमें है कि वह नियमों के अन्तर्गत रहती हुई भी उनसे परे हो जाती है। फूल पँखुड़ियों में सीमित रहते हुए भी अपनी सुगन्धि में असीम है, सिन्धु अपनी मर्यादा में रहते हुए भी अपनी स्वतंत्रता में विराट् है। पक्षी पंखों के बन्धन में रहते हुए भी गगन-मंडल में विचरणशील है। अपने नियमों से ही कविता स्वतंत्रता की परिधि तक पहुँचती है। उसकी स्वतंत्रता में उसके नियम ही सहायक हैं। यदि कविता नियम-रहित हो जाय तो वह अपनी उच्छृङ्खलता में सौन्दर्य का ही विनाश करती है और बिना सौन्दर्य के स्वतंत्रता केवल विशृंखलता (Chaos) में परिवर्तित होगी।

अतः मैं कविता में उसके भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य का समर्थक हूँ। कविता अपनी गति में ही स्वतंत्र होती है—वह अक्षरों, शब्दों, और मात्राओं

से परे होती है। जिस प्रकार जीवन में आन्तरिक सौन्दर्य के साथ ही साथ, बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा है, सिद्धान्त के साथ आचरण की एकरूपता अपेक्षित है, उसी प्रकार कविता में भी अनुभूति के साथ नियमित गति होनी चाहिए।

आधुनिक कविता में विलास और निराशा की भावना विशेष रूप से है। हमारा कवि दूध पीने वाले बच्चे की तरह इन्द्रियों की गोद में बैठ कर बन्दी हो गया है। फूल अपने लिए फूलता है, काला कीट उसे चुपके से खा डालता है। सौन्दर्य चेतनता की निधि है, विलास उसका विनाश करता है। इन्द्रियों की अग्नि प्रेम को जला देती है। तृप्ति होने पर प्रेम और सौन्दर्य रह कहाँ जाता है? प्रेम के धनुष पर बैठ कर यह विलास बाण की तरह चलता है किन्तु अन्त में पतन ही उसका ध्येय है। विलास तभी स्थायी होता है जब उसमें एक व्यञ्जना होती है—सूर और उमरख़ैयाम की कविता में जो विलास है वह चिरन्तन है। इसी भाँति अध्यात्म क्षेत्र में निराशा का मूल्य बहुत अधिक है। कबीर ने अपने पदों में तो आत्मा को 'बिरहिन' माना है लेकिन भौतिक क्षेत्र में निराशा श्लाघ्य नहीं है। मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ भौतिकवाद की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में भी मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि में बैठा हुआ अन्तिम विन्दु फिर प्रथम विन्दु हो जाता है उसी प्रकार विनाश में ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटना ही अन्त का दूसरा नाम है। अतः विकास और विनाश में विरोध नहीं है। वे जीवन के चिरप्रवास के विश्राम हैं।

कविता में स्थान-स्थान पर मेरे यही विचार अंकित हुए हैं। इसके आगे अपनी कविता की आलोचना करने में मैं असमर्थ हूँ। एक ही भावना से विविध प्रकार की कल्पनाएँ क्यों और कैसे हुईं, यह मैं जानने में असमर्थ हूँ। एक ही मिट्टी और पानी में क्या बात हो गई कि भिन्न-भिन्न रंग के फूल और काँटे एक साथ निकल आए?

कवि के मुख से—१

प्रत्येक साहित्य के भाव-विकास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होगा कि उसका वर्णन-क्रम बाहरी वस्तु-विन्यास से सदैव आंतरिक भावनाओं की ओर होता है। जैसे-जैसे समाज और साहित्य सभ्य होता चलता है वैसे-वैसे वह ऊपरी सतह से अपनी दृष्टि हटाकर भीतरी रहस्यों की तह तक पहुँच जाना चाहता है। साहित्य या कविता में पहले नगर और सेना के बाहरी वर्णन, पुष्पवाटिका या शरीर की शोभा के वर्णन की प्रधानता होती है। धीरे-धीरे नगर में रहने वाले लोगों के आंतरिक मनोविज्ञान, सैनिक वीरों, उत्साह भरे वाक्यों, पुष्पवाटिका में फूलों के ऊपर गूँजने वाले भौंरों के गुञ्जार का अर्थ और शरीर की शोभा में लज्जा भरे नेत्रों का उठते हुए भी न उठना, ऐसी अनेक बातें हैं जिनकी ओर कवि का ध्यान जाता है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के 'कविता-कलाप' में ऐसी कविताओं की संख्या बहुत अधिक है जिनमें बाह्य वर्णन या ऊपरी वस्तुओं का निर्देश है। कुछ कविताएँ मनोविज्ञान की तह तक पहुँचना अवश्य चाहती हैं, परन्तु ऐसी कविताओं की संख्या कम है। 'कादंबरी' 'अहल्या' 'परशुराम' 'केरल की तारा' जैसी कविताएँ बहुत हैं और 'द्रौपदी-दुकूल' 'भीष्म-प्रतिज्ञा' या 'केशों की कथा' जैसी कविताएँ बहुत कम हैं।

द्विवेदीजी के बाद प्रसादजी ने इस आंतरिक भाव-जगत् की खोज में बड़े मनोयोग से काम किया। उनका 'आँसू' इस दिशा में सब से पहला और सब से सफल काव्य है। उनका यह भाव-संकेत हिन्दी में बड़े उत्साह के साथ विकसित हुआ। भाषा तो द्विवेदीजी के समय में काफ़ी परिष्कृत हो ही चुकी थी अब भावनाएँ भी उज्ज्वल होने लगीं। इसी भावना-विकास में रहस्यवाद की छाया मिली जो आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थिति है।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में हिन्दी में बहुत भ्रान्तियाँ रहीं। कोई 'वीणा के तार' या 'मूक वेदना' के व्यंग्य भरे नामों से और कोई 'चल बे इक्केवाले, तू चल अनंत की ओर' वाक्यों से उसकी हँसी उड़ाते रहे, लेकिन वे यह न जान सके कि रहस्यवाद की भावना आज की नहीं, उस समय की है जब मनुष्य ने पहले-पहल अपने भौतिक जगत से ऊपर उठना समझा होगा। रहस्यवाद कोई वाद नहीं है और न कोई सिद्धान्त ही। वह अपने आराध्य में लीन हो जाने की अनुभूति है। उस अनुभूति में क्या होता है, क्या होनेवाला

है, इसे स्वयं साधक या कवि नहीं समझ सकता जिस तरह प्रिय से मिलने पर सारी सोची हुई बातें भूल जाती हैं और ऐसी बातें आप से आप मन की सतह तक उठ आती हैं जिन्हें पहले सोचा भी नहीं था। अपने जीवन में भी आपको अनुभव होगा कि अपने प्रियतम या प्रियतमा से मिलने पर सोची हुई सारी शिकायतें, सारे शिकवे भूल जाते हैं और आप क्या सोचने या समझने लगते हैं, यह आप स्वयं नहीं जानते। प्रिय के चले जाने पर आप कहते हैं—इतने दिनों की सोची हुई बातें सब भूल गईं और जो कहना चाहते थे उसका एक शब्द भी नहीं कह सके। जब संसार के प्रिय के सामने ऐसी हालत हो जाती है, तो इस संसार से परे अपनी वास्तविक सत्ता से मिलने पर क्या हालत हो जाती है, इसके समझने की क्षमता संसार के मनोविज्ञान में नहीं है। इसी-लिए रहस्यवाद की कविता कभी सोचकर नहीं लिखी जा सकती; वह तो अनुभूति है, आपसे आप उठने वाली तरंग है।

अपने पवित्र क्षणों में कुछ कविताएँ मुझसे भी इसी तरह की या इससे मिलती-जुलती बन पड़ी हैं। वे अपनी गहराई में कहाँ तक जा सकी हैं यह तो मैं किसी तरह कह ही नहीं सकता। आपके सामने दो एक कविताएँ रख रहा हूँ। प्रियतम के समीप की एक छोटी सी झाँकी मिलने पर मेरी भावनाएँ गा उठी हैं :

प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे जग के कण कण में क्या बिखराऊँ
शब्दों के अधखुले द्वार से
अभिलाषाएँ निकल न पातीं
उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर
इच्छाएँ चल कर थक जातीं
आह, स्वप्न-संकेतों से मैं कैसे तुमको पास बुलाऊँ। प्रिय०
जुही सुरभि की एक लहर से
निशा बह गई डूबे तारे
अश्रु-विंदु में डूब डूब कर
दृग-तारे ये कभी न हारे
अपने दुख की उस जागृति में तुम्हें जगा कर क्या सुख पाऊँ
प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ

संसार की रातें आती हैं, जाती हैं, तारे निकलते हैं, डूबते हैं लेकिन तुम्हारे वियोग में निकले हुए आँसू रूपी तारे कभी निकलने से रुके नहीं और डूबकर

डूबे नहीं। ये अभिलाषाएँ और इच्छाएँ शब्दों के अधखुले द्वार से निकल नहीं पातीं।

इसी प्रकार उस प्रियतम के विरह में एक कविता बनी थी :

भूल कर भी तुम न आए
आँख के आँसू उमड़ कर, आँख ही में हैं समाए
सुरभि से शृङ्गार कर वह वायु
प्रिय-पथ में समाई
अरुण कलियों में स्वयं सज
आरती उर में सजाई
बंदना कर पल्लवों ने नवल वंदनवार छाए। भूल कर०
हूँ असीम, ससीम सुख से
सींच कर संसार सारा
साँस की विरुदावली से
गा रहा हूँ यश तुम्हारा
किन्तु तुमको कौन स्वर, स्वरकार, मेरे पास लाए
भूल कर भी तुम न आए

संसार की समस्त शोभा तुम्हारा स्वागत कर रही है। मैं स्वयं अपने साँस के राग से तुम्हारा स्वागत-गान गा रहा हूँ, न जाने किस स्वर से तुम खिंच कर मेरे पास आओगे मेरे प्रियतम, यह मैं नहीं जानता।

ऐसी ही एक कविता मुझसे और बनी। मैं अपने को उस अनंत सत्ता का एक कण मानते हुए कह उठा हूँ :

एक दीपक किरण-कण हूँ
धूम्र जिसके क्रोड़ में है
उस अनल का हाथ हूँ मैं
नव प्रभा लेकर चला हूँ
पर जलन के साथ हूँ मैं
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी साधना का ज्वलित क्षण हूँ। एक दीपक०
व्योम के उर में अपार
भरा हुआ है जो अँधेरा
और जिसने सृष्टि का
प्रत्येक कण सौ बार घेरा

कवि के मुख से—१

उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ। एक दीपक०

शलभ को अमरत्व देकर
प्रेम पर मरना सिखाया
सूर्य का संदेश लेकर
रात्रि के उर में समाया
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ
एक दीपक किरण-कण हूँ

माया के धूम को छिपाए हुए उस प्रकाश-ज्योति की मैं ऐसी किरण हूँ जिसके अंतर में प्रभा तो है पर साथ ही साथ संसार की जलन भी है। किन्तु यह ज्योति ऐसी है जिससे संसार का अंधकार दूर हो सकता है। इंद्रियों से पूर्ण इस शरीर से ही तो प्रेम की साधना होती है और इसीलिए मैं अपनी शक्ति से इस संसार के भौतिकवाद में अपनी दिव्य ज्योति लेकर समाया हुआ हूँ। मुझे इस बात की चिन्ता नहीं है कि मैं तुमसे मिलने योग्य हूँ या नहीं लेकिन मैं मिलने के लिए चला आया हूँ, मिलूँगा और मिल कर रहूँगा।

रहस्यवाद की साधना बहुत ऊँची है। कबीर कहते हैं :

डुबकी मारी समुद में निकसा जाय अकास
गगन-मंडल में घर किया हीरा पाया दास

संसार के समुद्र में डुबकी मार कर आकाश में निकलने की शक्ति कितने साधकों में है! फिर वर्तमान परिस्थितियों में साधना ही क्या किन्तु कविता के पावन क्षेत्र में वासनाओं से रहित यदि आंतरिक पवित्रता स्वाभाविकता से आराध्य-मिलन और विरह के सुख या दुख का कुछ अनुभव कर ले तो मेरे लिए यही बहुत है। इसी-लिए मैं कहता हूँ :

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत !

कवि के मुख से—२

पिछले चार वर्षों से मैं अनुभव कर रहा हूँ कि हिन्दी साहित्य में यथेष्ट गीतिकाव्य लिखा जा चुका है और यह गीतिकाव्य ऐसा है जिसमें विचारों की पृष्ठभूमि प्रायः वही है जो आधुनिक हिन्दी साहित्य से पिछले आठ दस वर्षों से रही है। इसलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के सामने दो बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। पहला तो यह है कि यदि गीतिकाव्य लिखा जावे तो वह ऐसा हो जिसमें जीवन के अंतरतम भाग की मूर्त्त अभिव्यक्ति हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सामंजस्य रखती हुई प्रकट की जावे। इस अभिव्यक्ति में आशावाद की प्रखर ज्योति होनी चाहिए। अब कविता से निराशावाद दूर हो। मैं जिस निराशावाद की बात कह रहा हूँ वह भौतिक निराशावाद है। अध्यात्म क्षेत्र में निराशा का मूल्य बहुत अधिक है जैसा मैंने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक कवि ३' की भूमिका में लिखा है। 'मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ, भौतिकवाद की निराशा का नहीं! विनाश और मृत्यु में मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि में बैठा हुआ अंतिम बिन्दु फिर प्रथम बिन्दु हो जाता है, उसी प्रकार विनाश में ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटना ही अंत का दूसरा नाम है। अतः विकास और विनाश में विरोध नहीं है। वे जीवन के चिरप्रवास के विश्राम हैं।'

इस भाँति हिन्दू दर्शन में तो निराशावाद केवल आशावाद की पृष्ठभूमि ही है किन्तु सच्चे रहस्यवाद की अनुभूति कितने कवियों में हो सकती है? फिर आज का कवि तो समाजवाद के सोपान पर खड़ा होकर रुपया, आना, पाई में मनुष्य का मूल्य आँकना चाहता है। अतः भौतिकवाद के इस युग में जिसमें रहस्यवाद एक भूले हुए स्वप्न की भाँति कवियों की आँखों से धुँधला होता जा रहा है एकमात्र आशावाद ही कवियों का लक्ष्य होना चाहिए। इन्हीं विचारों ने मुझ जैसे कल्पनाप्रिय गायक से कुछ कविताएँ लिखवा लीं। एक कविता जो मुझे विशेष अच्छी लगी है, वह आप भी सुनिए। उसका शीर्षक 'जागरण की ज्योति' है :

जागरण की ज्योति भर दो नींद के संसार में तुम
जब कि जीवन-रेख सी यह
साँस ही मुझमें सजग हो

और मेरे हृदय का प्रिय हास भी
मुझसे विलग हो
भ्रान्ति ही बन कर मिलो प्रिय स्वप्न के अभिसार में तुम
जागरण की ज्योति भर दो नींद के संसार में तुम
ज्ञात होता है कि ये दुख
दृग-रहित हैं पथ न पाते
भूल कर ये हाय, मेरे पास ही
फिर लौट आते
दृष्टि उनको या कि साहस दो मुझे उपहार में तुम
जागरण की ज्योति भर दो नींद के संसार में तुम
ये बधिर दिन मास जैसे
एक गति-क्रम जानते हैं
राग का या रोष का वे
एक ही 'सम' जानते हैं
राग में हो लीन गूँजो बीन की झनकार में तुम
जागरण की ज्योति भर दो नींद के संसार में तुम
और यह निर्झर सदा ही
गा रहा है एक स्वर में
किंतु उसकी मधुरता कण भर
न पाई आयु भर में
मधुर कंपन बन समाओ अखिल स्वर-विस्तार में तुम
जागरण की ज्योति भर दो नींद के संसार में तुम

अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को लेते हुए मैंने इधर जो एक कविता लिखी थी, वह मैं आपके सामने पढ़ रहा हूँ :

प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
दो हृदय के मिलन में मिट जाय वह अन्तर बनूँ मैं
करुण जीवन जब कि हिम की
विकल घुलती धार सा हो
या कि सिसकी पर रखे वह
आँसुओं के भार सा हो

सिक्त उससे हो उठे उस धूल का कण-भर बनूँ मैं
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
प्रेम की इस अग्नि से क्यों
धूम सी उठती निराशा
क्यों हृदय की भावना को
मिल सकी अब तक न भाषा
ये तुम्हारे हों लजीले प्रश्न तो उत्तर बनूँ मैं
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
तारिका है या किसी की
काँपती है तरल सिसकी
क्षीण शशि में नत हुई सी
दीखती है पलक किसकी
जो इन्हें उर में सजा ले वह सदय अंबर बनूँ मैं
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
अग्रसर होना निरंतर ही
बना अस्तित्व जिसका
कठिनतर अवरोध से ही
बन सका व्यक्तित्व जिसका
प्राप्त कर पद-ध्वनि तुम्हारी गीतिमय निर्झर बनूँ मैं
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
रक्त-डूबा क्रौंच भू पर
अरुण बादल सा विनत हो
क्रौंचि के चीत्कार से
वन प्रान्त जैसे कान्तिहत हो
तब करुण-उर आदि कवि के काव्य का अवसर बनूँ मैं
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं

आधुनिक हिन्दी काव्य के सामने जो मैंने दो महत्वपूर्ण प्रश्न रक्खे थे, उनमें पहले के सम्बन्ध में मैंने स्पष्टीकरण करते हुए अपनी दो कविताएँ सुनाईं। दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उपर्युक्त विचारों से प्रेरित गीतिकाव्य के अतिरिक्त जिस काव्य की आवश्यकता है वह खंडकाव्य और महाकाव्य है। यद्यपि पिछले दो-तीन वर्षों से इस

ओर हमारे कवियों की प्रवृत्ति हुई है, किन्तु देश को जिस मात्रा में ऐसे काव्य की आवश्यकता है, उस मात्रा में अभी काव्य-प्रणयन नहीं हो रहा है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'अजित', श्री सियारामशरण का 'नकुल', श्री मोहनलाल महतो का 'आर्यावर्त' और श्री दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' इस दिशा में आदरणीय कृतियाँ हैं। हमारे देश के गौरवपूर्ण प्रसंग और प्रातःस्मरणीय महान् पुरुषों के चरित्र हमारे नवयुवकों के चरित्र-निर्माण में सहायक होने चाहिए। अभी तक जिस इतिहास में ऐसे प्रसंगों और चरित्रों का वर्णन रहा है, वे भ्रान्तिपूर्ण हैं। इस कर्त्तव्य का निर्वाह हमारे यहाँ के सफल कवियों द्वारा होना चाहिए। इस क्षेत्र में मैंने भी अपने ढंग से प्रयत्न किया है। इधर अनेक वर्षों से मेरा ध्यान भारतीय समाज-व्यवस्था की ओर आकर्षित हुआ है। अपने चिन्तन में मुझे महात्मा गांधी और मार्क्स की विचारधारा से विशेष बल मिला है। इस विषय पर सोचते-सोचते मैं 'एकलव्य' काव्य की रचना में प्रवृत्त हुआ। 'महाभारत' की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि लेकर मैंने अपने काव्य की कथा में एकलव्य का आश्रय लिया है। क्या एकलव्य की कथा एक बार फिर क्रान्ति उपस्थित न करेगी? आप उस 'एकलव्य' काव्य का प्रारंभिक अंश सुनिए। पहले मैंने एकलव्य का स्तव किया है :

अमर एकलव्य

देवी शारदा से आज माँगता हूँ शब्द मैं
जो तुम्हारे शब्दबेधी बाणों-से प्रचंड हों
झंझना उठे दिशाएँ जिनके प्रयोग से
पक्षपाती भावनाएँ खंड, शत खंड हों

शब्द-बाण, ऐसे शब्द बाण जो दिगंत में
रवि-किरणों की भाँति छूटें एक क्षण में
जिनसे धरा का मुख निःक्षत भर जाय
और एक जागृति सी फैले कण-कण में

देख जावें द्रोण, यह साधना तुम्हारी है
मृत्तिका की मूर्ति नहीं, साधना की स्फूर्ति है
भारत की श्री है वीर की अचिन्त्य साधना
प्राण भूति तुच्छ है प्रधान प्रण-पूर्ति है

देखूँ, कौन है जो रोके या कि जो रुद्ध करे
यह निषाद-नाद जो स्वरान्त है गीत में

किन्तु अवरोह में जो अग्रगण्य गेय है
वर्त्तमान में सजीव, चाहे हो अतीत में

हो निषाद-पुत्र नीच वर्ण संस्कारहीन ?
लांछित हो, तुमको न कोई अधिकार है ?
लेना साँस भी क्या तुम्हें भिक्षा में दिया गया ?
सेवा-मात्र लेना क्या तुम्हारे प्रति प्यार है ?

प्रार्थना की तुमने कि शिक्षा-दान प्राप्त हो
श्याम मेघ ज्यों खड़ा हो प्राची के प्रभात में
माँगता है रवि से प्रकाश-रेखा दान दो
सूर्य उठता है ज्यों अनंग गात गात में

क्षण में ही बादल को राग-रंजित किया
ज्योति की सँवार दी विचित्र चित्रलेखा सी
रावण से हो प्रसन्न जैसे शिव शंभु ने
लंका बीच खींच दी हो एक स्वर्ण-रेखा सी

किन्तु द्रोण ने तुम्हें निषेध किया विद्या का
क्यों किया कि शूद्र वर्ण तुम हो, निषाद हो ?
और राजपुत्र सब श्रेष्ठ वर्ण मानव थे ?
उनको कहीं तुम्हारी विद्या से विषाद हो ?

किन्तु कौन था, तुम्हारी साधना को रोकता
साहस का मार्ग तीनों कालों में प्रशस्त है
काल-गति से न कभी नष्ट होता शौर्य है
ऐसा यह सूर्य है कि जिसका न अस्त है

क्षत्रि-जाति ही है अग्रणी क्या धनुर्वेद में ?
ढाल या तूणीर क्या उन्हीं का पृष्ठ-भाग है ?
धन्वा क्या उन्हीं की शक्ति के समक्ष है झुका ?
बाण क्या उन्हीं करों से फुंकरित नाग है ?

कवि के मुख से—२

तुमने 'नहीं' कहा, की ऐसी निष्ठ साधना
एक शूद्र ने समस्त क्षत्रियों की आन ली
मानव-विभेद का ही लक्ष्य-भेद यों किया
विश्व ने तुम्हारी बात मौन हो के मान ली

ऐसी साधना मुझे दो अनुपम एकलव्य
एक लव मेरी लेखनी का हो तुम्हारी ही
शब्द-बेध एक बार फिर हो ऐ कार्मुकी!
चकित हो साधना से यह सृष्टि सारी ही

इस स्तव के बाद काव्य का प्रवेश इस प्रकार होता है :

क्रुद्ध घोषणा है यह भारत के युद्ध की
पाप हो या पुण्य, शक्ति के समक्ष नत है
जीवन का युद्ध लड़ो धर्मराज वंशजो!
वीर का न अन्य कोई जीवन में व्रत है

सूर्य का मुकुट जैसे व्योम-भाल पर है
जैसे काव्य-शीर्ष पर शारदा की स्तुति है
सागर के शीश पर झंझा ज्यों झूलता है
जैसे बादलों के शीश दामिनी की द्युति है

वैसे ही तुम्हारा भाल शौर्य, शक्ति, कान्ति से
अंकित हो भौंह की सशक्त रेखा वक्र में
घूमती तुम्हारी दृष्टि में हो शक्ति वैसी ही
जैसी शक्ति घूमती है श्रीवर के चक्र में

धैर्य का कवच जो कि शब्द से अभेद्य हो
कार्य की कुशलता ही हो कृप -धार सी
नीति हो तुम्हारी मति, और क्षमा यति हो
गति हो तुम्हारी एकलव्य के प्रहार सी

वर्तुल कठिन कांड के सुनील बाण हे!
वंदना तुम्हारी विश्व करता है कब से

विचार-दर्शन

श्रेष्ठ वज्र बाण ! दृढ़ बेध किया तुमने
गूँज उठा नील व्योम क्रान्तिकारी रव से

वायु की तरंगें मध्य ही में मुड़ जाती हैं
जब तुम चलते हो चाप से निकल के
स्वप्न सत्य बनते हैं एक क्षण भर में
और सत्य बनते हैं भूले स्वप्न कल के

उड़ कर लक्ष्य बेधने में कल्पना उड़ी
बिछुड़े धनुष से कि साँस है बिछुड़ती
पूर्व और पश्चिम दिशाएँ प्रतिकूल भी
बाण हैं तुम्हारी गति-रेख से है जुड़ती

हीन वर्ण उठता है उच्च वर्ण नीच हो
काटता है तुमको पराजित हो नीति से
फिर भी उठे ही रहे वर्ण-भेद बेध के
तुम एकलव्य के करों के पले प्रीति से

मेरा काव्य-तूर्ण आज सज्जित है तुम से
ऐसी गति से चलो कि श्वान-मुख भर दो
एक शब्द भी न कभी निकले विरोध में
मेरा काव्य आज महाभारत-सा कर दो

(रेडियो के सौजन्य से)

आलोचक के सामने

श्री गुलाबराय—काव्य का जीवन से लगाव होना उसकी श्रेष्ठता के लिए आप कहाँ तक ज़रूरी समझते हैं, यदि ज़रूरी समझते हैं तो संसार और जीवन से मन हटानेवाली निराशावादी कविता साहित्य को ऊँचा उठाने में कहाँ तक सहायक होगी?

यह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप

अथवा *यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार*

या *धूल समझ कर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार*

क्या ऐसी पंक्तियाँ जीवन से उदासीनता नहीं उत्पन्न करतीं और हमको पलायनवाद यानी escapism की ओर नहीं ले जातीं? क्या आप ऐसे पलायनवाद से दूर हटने की ज़रूरत महसूस नहीं करते या आप 'प्रेयसि' की (चाहे वह ईश्वर का ही दूसरा नाम क्यों न हो) शरण में जाकर यह कहना कि 'आओ, आज स्वर्ग पृथ्वी मिलकर हो जावें एक, मेरे उर का आज तुम्हारे उर से हो अभिषेक,' काफ़ी समझते हैं? क्या काव्य का उद्देश्य यानी मक़सद मन का बोझ हलका करने के अलावा और भी कुछ है?

मैं—मैं काव्य का जीवन से गहरा संबंध मानता हूँ। मैंने तो अपने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखा ही है कि जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है। जब मैं कविता का जीवन से इतना बड़ा संबंध मानता हूँ तो निराशा भी जीवन का एक भाग होने से अपना चित्रण पा सकती है किंतु निराशा को मैं साहित्य के सिर पर नहीं चढ़ा सकता। मैं केवल अध्यात्म-क्षेत्र में निराशा का पोषक हूँ। भौतिकवाद की निराशा कविता की कल्याणकारी भावना को दूर तक नहीं ले जा सकती। जहाँ-जहाँ मेरी कविता में रहस्यवाद आ गया है वहाँ मेरी निराश भावनाएँ आप से आप प्रकट हो गई हैं:

करुणा के सागर में उठती हैं जब विषम हिलोरें
प्रिय-दर्शन-वरदान माँगती हैं नयनों की कोरें

जब कभी रहस्यवाद में आशा का संचार होता है तब मेरी भावना निराशा से निकल कर आशा में उठना चाहती है और मैं आनंद-विभोर होकर कह देता हूँ:

आओ आज, स्वर्ग पृथ्वी मिलकर हो जावें एक
मेरे उर का आज तुम्हारे उर से हो अभिषेक

मैं तुमसे मिल गया प्रिये, यह है जीवन का अंत
इसी मिलन का गीत कोकिले, गा जीवन-पर्यन्त

रहस्यवाद की इन भावनाओं में आप कभी सूफ़ीमत का प्रभाव भी देखेंगे जहाँ मेरा आराध्य 'स्त्री' भी बन गया है और मेरी उमंग में पुरुषत्व उभर आया है। इस ज़िंदगी की निराशा में मेरा विश्वास नहीं है। मैं तो भगवान श्रीकृष्ण के उस स्वर्ण-वाक्य का समर्थक हूँ जो उन्होंने अर्जुन से कहा था :

क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।

इसीलिए 'चट्टान' शीर्षक कविता में मैंने लिखा है :

क्या इसमें है परिव्याप्त आग ? मुझमें भी जागी यही आग
मैं दृढ़ हूँ—सागर उठे, देखना निकल न आए कहीं झाग !
मैं हूँ अखंड, कायरता का मुझमें न कहीं भी लगा दाग़
मुझको आकर चाहे देखे भूमंडल का प्रत्येक भाग
मैं अपनेपन की प्रकट शक्ति से चिर वर्षों तक हूँ प्रचंड
दृढ़ खड़ी कड़ी टेढ़ी अखंड चट्टान अटल जड़ सी विषंण

मेरे 'अभिशाप' की पंक्तियाँ :

यह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप
या *यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार*
या *धूल समझ कर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार*

केवल मेरे अध्यात्मवाद की पुष्टि करती हैं और इसका संकेत मैंने प्रथम पंक्तियों में कर दिया है कि *'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ 'आज अनश्वर गीत'* पलायनवाद या escapism को मैं मनुष्य की सब से बड़ी कमज़ोरी समझता हूँ। अतः मेरे काव्य का उद्देश्य मन के बोझ को हलका करने के अलावा जीवन के परिष्करण और उसके गतिशील होने में है।

श्री गुलाबराय—काव्य में शक्ति और सजीवता लाने के लिए आप अनुभूति यानी Realisation को कहाँ तक जरूरी समझते हैं ? भाव में तीव्रता लाने में कल्पना यानी imagination कहाँ तक अनुभूति का स्थान ले सकती है ? आप अनुभूति और साधना यानी रियाज़ की कमी वर्तमान रहस्यवाद के ऊँचे उठने में कहाँ तक बाधक समझते हैं ?

मैं—काव्य में शक्ति और सजीवता लाने के लिए मैं अनुभूति यानी Realisation को बहुत जरूरी मानता हूँ। केवल भावुकता यानी Sentiment कविता को ऊपर नहीं उठा सकती। कविता में प्राण तो केवल अनुभूति ही भरती है। इसीलिए

कवि को द्रष्टा बनकर ऊँचे धरातल पर जाने की आवश्यकता है और चूँकि यह ख़ासियत बहुत से कवि कहलाने वालों में नहीं होती, वे अपने ही दिल की आवाज़ नहीं सुन सकते, अपनी ही साँस की गति से परिचित नहीं होते, कविता में प्राण-प्रतिष्ठा करने में असफल होते हैं और चूँकि इस अनुभूति की आवश्यकता रहस्यवाद के क्षेत्र में और भी अधिक होती है. हमारे वर्तमान रहस्यवाद की बहुत सी कविता प्राण-हीन होकर पड़ी हुई है। कल्पना यद्यपि कविता में नये-नये संसार की सृष्टि करती है, तथापि वह अनुभूति का स्थान नहीं ले सकती। उससे भावना में तीव्रता तो अवश्य आ जाती है किंतु वह कविता में स्पंदन नहीं ला सकती। मुझे तो कल्पना वैसी ही मालूम देती है जैसे असितकुमार हल्दार या कनु देसाई की तूलिका से बने हुए कलापूर्ण चित्र। जिनमें सौंदर्य तो अवश्य है किन्तु वे चित्र चल-फिर नहीं सकते और मेरे कमरे में एक जगह सजे हुए रखे हैं।

श्री गुलाबराय—क्या भाव की सचाई यानी Sincerity की मात्रा बढ़ाने के लिए कवि के विचारों का उसके जीवन से साम्य होना आवश्यक नहीं? क्या उन प्रगतिवादी कवियों से जो ख़स की टट्टियों के पीछे, बिजली के पंखों के नीचे और स्प्रिंगदार सोफ़ों के ऊपर पार्कर पेन से धूप में गिट्टी तोड़नेवाले मज़दूरों की कविता लिखते हैं और उन रहस्यवादी कवियों से जो जीवन की भाग-दौड़ और कशमकश में भाग लेते हुए भी इस संसार से मुँह फेरते या प्रियतम या प्रियतमा से वियोग की विषम वेदना का राग अलापते हैं, यह कह देना ठीक न होगा कि आप सच्चा अनुभव प्राप्त करें, यह आपके बस का रोग नहीं:

कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी।

क्या आप अनुभूति वाले कम पढ़े कबीर जैसे तन्मय कवि को काव्य की कला में पारंगत परन्तु साधना और अनुभवहीन कवि से अच्छा नहीं समझते?

मैं—कविता और आत्मगत सत्यता Sincerity को मैं कार्य और कारण ही मानता हूँ। बिना सिनसीयरिटी के कविता नहीं लिखी जा सकती और जो कविता लिखी जाती है वह केवल बहुरूपियापन है, केवल अभिनय मात्र है। इसीलिए आधुनिक काल में ख़स की टट्टी के पीछे रहनेवाले कवि की पार्कर पेन से लिखी हुई भूखे किसान पर कविता में मैं भाव की सचाई का अभाव पाता हूँ। इसी प्रकार मौज से रहनेवाले कवि की विरह-कविता में बनावट है, उसमें ज़्यादा वज़न नहीं है। आपने बड़े मार्के की बात कही है:

कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बन बिचरहु स्वामी

अच्छा तो यही है कि ये कोमलपद-गामी कवि अल्फ्रेड लान पर टहलते हुए एलायंस होटल में दी जाने वाली किसी मिल ओनर की पार्टी में जाने की बात सोचें और विरह-काव्य लिखने वाले ये जीवन के क्लर्क या एकाउंटेंट आँसुओं की अपेक्षा रुपया, आना, पाई का टोटल लगाएँ। लिखने में सिनसीयरिटी होने के प्रस्तुत विषय में साँस लेना या 'लिव्ह' करना कवि या कवि कहलाने वाले 'क़लमवान' के लिए आवश्यक है। कबीर ने जो लिखा, अनुभव किया था। जीवन की सच्ची कविता लिखने के लिए पिंगल या किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। कम पढ़े कबीर ने जो कुछ भी लिखा उसमें उनका पूरा अनुभव है और वे काव्य के पंडितों से ऊपर माने जाने योग्य हैं।

श्री गुलाबराय—हिन्दी नाटकों में कोई ऐसी बात पैदा हो रही है जो उनको दूसरे देश के नाटकों के मुक़ाबले में एक निजी व्यक्तित्व दे सकें? इब्सन और शा का अनुकरण हमारे नाटककारों के लिए कहाँ तक श्रेयस्कर हुआ है? क्या एकांकी नाटक बड़े नाटकों का स्थान ले सकेंगे? आपकी रुचि पूरे नाटक लिखने की ओर क्यों नहीं हुई?

मैं—हमारे यहाँ के नाटकों में ऐसी विशेषता पैदा हो रही है जो उन्हें दूसरे देश के नाटकों के मुक़ाबले में एक निजी व्यक्तित्व दे रही है और वह है अपनी संस्कृति और समाज का जीता-जागता चित्रण करना। लेकिन यह अभी अधिक नहीं हो रहा। हमारे नाटककारों को अपनी भारतीयता नहीं भुला देनी चाहिए। उन्हें मनुष्य के साथ-साथ उसके संस्कार भी रखने हैं। यदि वे संस्कार भूल जायँगे तो मनुष्य का व्यक्तित्व भी भूलते देर न लगेगी। इब्सन और शा का अनुकरण हमारे नाटककारों को वहीं तक श्रेयस्कर हुआ है जहाँ तक उन्हें मनोविज्ञान के चित्रित करने की शैली की आवश्यकता है, इससे अधिक नहीं। मुझे विश्वास है; एकांकी नाटक बड़े नाटकों का स्थान अवश्य ले सकेंगे क्योंकि हमारे व्यस्त जीवन में समय की बहुत कमी होती जा रही है। जिस तरह सारी रात के थियेटर अब सिनेमा से समाप्त होते जा रहे हैं, उसी तरह कहानियों के सामने बड़े-बड़े उपन्यास उखड़ते जा रहे हैं। केवल एकांकी नाटक को और भी परिमार्जित करने की आवश्यकता है। यों तो एकांकी नाटक जीवन की सधी हुई झाँकी है फिर भी उसकी व्यंजना इतनी स्पष्ट होनी चाहिए कि वह कौतूहल के साथ ही साथ स्वाभाविकता और जीवन की सचाई की ओर संकेत कर सके। मैंने पूरे नाटक नहीं लिखे। एक तो मुझमें पूरे जीवन का अनुभव ही नहीं है फिर यथेष्ट अवकाश भी नहीं। जब तक मैं आपकी उमर तक पहुँचूँ तब तक शायद एक आध पूरा नाटक लिख सकूँगा। अभी तक जीवन के किसी पहलू को लेकर जिस पर मेरा यथाशक्ति अधिकार है, मैं एकांकी नाटक की रचना का देता हूँ। किन्तु पूरा नाटक लिखना सारी ज़िन्दगी

के दैत्य को धुँआ बना कर एक घड़े में भर देने की युक्ति की तरह है और किसी धीवर ने अभी तक वह युक्ति मुझे नहीं सिखलाई। यही मेरी लाचारी है।

श्री गुलाबराय—आपने 'पृथ्वीराज की आँखें' के पूर्वरंग में कहा है कि नाटक में वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्व Dramatiques की प्रधानता रहती है। आपके 'एक्ट्रेस' नामक नाटक में क्या वर्णनात्मक तत्व की प्रधानता नहीं है ? क्या 'स्टोरी' के रूप में वह इससे अच्छा न होता ? आपने अपने 'चंपक' में करुणा को प्रेम से अधिक प्रधानता दी है। क्या करुणा के लिए प्रेम को छोड़ना ज़रूरी है ? क्या आपके नाटकों में संयोग यानी Chance से ज़्यादा काम नहीं लिया गया है ? 'चंपक' में कुत्ते का पीटने-वाला भिखारी के रूप में आ जाता है। मिस्टर अनंग वर्मा की पत्नी कमलकुमारी एक्ट्रेस प्रभा में प्रभावती के दर्शन करती है। क्या बदला लेने के अलावा पति के सुधार का और कोई तरीक़ा न था ? 'एक तोले अफ़ीम' में भी ऐसे ही संयोग से काम लिया गया है। क्या इस नाटक के नायक की मुखरित विचार धारा Soliloquy बहुत लम्बी नहीं हो गई है ? 'बादल की मृत्यु' को आप नाटक कहेंगे या गद्य-काव्य ? क्या संध्या, बादल और हवा का मनुष्यों की तरह बोलना अस्वाभाविक नहीं है ? 'नारी की वैज्ञानिक परीक्षा' में प्रेम जैसी स्वर्गीय वस्तु को परीक्षा का विषय बनाना कहाँ तक उचित है ?

मैं—आप इस प्रश्न से मुझसे नाटकों की पूरी व्याख्या करवाना चाहते हैं। लेकिन समय बहुत नहीं है। इसलिए यदि मैं सब बातें थोड़े में कहूँ तो मुझे क्षमा करें। मैंने 'पृथ्वीराज की आँखें' के पूर्वरंग में अभिनयात्मक तत्व की नाटक में प्रधानता मानी है और यही तत्व मेरे नाटकों में आपको अधिक स्थानों पर मिलेगा। 'एक्ट्रेस' नाटक के बारे में जो आपको सन्देह हुआ है उसका मुख्य कारण यह है कि उसकी कथावस्तु ऐसे पेचीदे रास्ते से चल पड़ी है कि मेरे न चाहते हुए भी पात्र उलझते चले गए हैं। उन्हें सुलझाने के लिए एक से अधिक दृश्यों की आवश्यकता थी। मैं समझता हूँ यदि 'एक्ट्रेस' को मैं एकांकी के रूप में न लिख कर पूरे नाटक के रूप में लिखता तो अधिक अच्छा होता। या एकांकी में ही तीन-चार दृश्य रख देता जैसा आजकल के कुछ नाटककार कर रहे हैं, पर वह मुझे मान्य नहीं है। मैं तो एकांकी नाटक में 'स्थान-संकलन' बहुत ज़रूरी समझता हूँ। जो बात वर्णनात्मकता की भावना आपको दे रही है वह केवल परिस्थिति की माँग है। फिर कमलकुमारी अवकाश में है। प्रभा से कुछ भी बात करना उसके लिए आवश्यक है क्योंकि अनंग उसे कुछ देर के लिए प्रभा के पास छोड़ गया है। फिर वह प्रकृति की क्रीड़ा-भूमि में है जहाँ बातें भी पेड़ों की भाँति बढ़ती हैं। इन सब बातों ने वार्तालाप को कुछ अधिक रूप दिया है पर यह सब

परिस्थिति की माँग है। 'चंपक' में करुणा को प्रेम से प्रधानता अवश्य दी गई है लेकिन कवि की यह करुणा व्यक्तिगत नहीं है, उसका प्रेम व्यक्तिगत है। अतः जब किसी उदार व्यक्ति में किसी के प्रति स्वभावजन्य करुणा होती है तो वह व्यक्तिगत आत्म-तुष्टि की बात छोड़ देता है। अपनी सुविधाओं का मोह होते हुए भी आप विद्यार्थियों को पढ़ाने में श्रम करते हैं, इस भावना को आपने कभी जाँच कर देखा ? बड़े और उदार आदमियों का यही लक्षण है कि वे अपने सुख की उपेक्षा कर दूसरे का दुःख दूर करना चाहते हैं। वे समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान करते हैं।

आपने संयोग या Chance का बड़ा सुन्दर प्रश्न उठाया है। मैं नाटकों में आकस्मिक घटनाओं का वहीं तक पोषक हूँ जहाँ तक कि वे सौ में दस के अनुपात से घटित होती हैं। किन्तु जहाँ वे महज़ चमत्कार के लिए होती हैं वहाँ मैं उनका दुश्मन हूँ। नाटक में 'चांस' कुछ अधिक हो जाता है और उसका कारण है नाटक के भीतर हमें बरसों या महीनों में घटित होने वाली घटनाओं को केवल आध घंटे या उससे भी कम समय में बिना किसी अस्वाभाविकता के लाने की आवश्यकता पड़ जाती है। तब हमें जीवन की वास्तविकता को घनीभूत करने में कला का आश्रय लेना पड़ता है। यहीं असलियत में आकर्षण उत्पन्न होता है। 'अकस्मात्' का प्रयोग अगर अस्वाभाविक नहीं है तो हमें आपत्ति करने के लिए कम स्थान है। जीवन की वास्तविकता हमारे नाटक का आधार होना चाहिए पर जिस वास्तविकता में कोई आकर्षण नहीं है वह हमें रुचिकर नहीं हो सकती। जब हमें रंगमंच के थोड़े समय में जीवन का चित्रण करना होता है तब हमें जीवन की ऐसी घटनाएँ तो चाहिए ही जो हृदय की सहानुभूति प्राप्त कर सकें या हमारी रागात्मक प्रवृत्ति में कुछ चेतना ला सकें। 'एक्ट्रेस' में प्रभावती की ओर से बदला लेने के बजाय आपने उसके पति के सुधार का दूसरा हल पूछा है। जिस स्थिति में प्रभा थी वह कैसी थी ? स्वयं प्रभा कहती है—'क्षणिक मिलन, वह भी उस समय जब मदिरा से उनकी आँखें झूमती रहती थीं। दो चार कर्कश शब्द के बाद उनका एक सप्ताह के लिए वियोग। यह था मेरा जीवन।' शराबी पति के सुधार के लिए जूते की तासीर अच्छी होती है, लेकिन हिन्दुस्तान की स्त्री ऐसा नहीं कर सकती। एक्ट्रेस बनने की प्रेरणा प्रभा को अपने पति से ही मिली जब कि वह बेचारी हिंदू स्त्री प्रतिहिंसा से भरी हुई थी और कुछ नहीं कर सकती थी। पति के सुधार की भावना उसके मनोविज्ञान में है जो महात्मा गांधी सब से अच्छा सुधार मानते हैं। 'एक तोले अफ़ीम की क़ीमत' में नायक का स्वगत कथन लंबा है। वह आत्म-हत्या करने जा रहा है इसलिए जीवन के इस पार और उस पार की सभी

बातें सोचता है, यह पूर्ण स्वाभाविक भी है। दुर्भाग्य से नाटककार के पास और कोई साधन नहीं है। इस आत्म-हत्या की सैकड़ों बातों को दर्शकों पर प्रकट करने के लिए मैंने अपने नाटक में स्वगत-कथन का प्रयोग कम से कम किया है। और इस स्थान पर मैं विवश था। फिर यदि नायक आत्महत्या जैसे गंभीर और भयानक कार्य में प्रवृत्त न होता तो मैं शायद स्वगत-कथन रखता भी नहीं।

'बादल की मृत्यु' एक रूपक है मैटरलिंक की शैली पर। वह अभिनय के लिए नहीं है, वह तो जीवन के स्वार्थ की एक झाँकी है। उसमें केवल कल्पना है। उसके चित्रण में नाटककार और कवि में समझौता हुआ है।

'नारी की वैज्ञानिक परीक्षा' में प्रेम जैसी स्वर्गीय वस्तु को परीक्षा का विषय बनाना कौन पसंद करेगा किंतु ज़रा किसी जवान स्त्री के बूढ़े पति से पूछिए कि उसके हृदय में अपनी पत्नी के प्रति कैसी-कैसी शंकाएँ होती हैं जिनकी जाँच वह चुपके-चुपके किया करता है। प्रोफ़ेसर केदार अपनी युवती पत्नी के बूढ़े पति हैं। उनके मन में भी कुछ शंकाएँ हैं जिन्हें वे सुलझी भाषा में अपने निजी दोस्त डा० रुद्र के सामने रखते हैं, जो एक बड़े मनोवैज्ञानिक हैं। आपकी तरह डा० रुद्र भी परीक्षा करने से इंकार करते हैं। वे तो यहाँ तक कह जाते हैं कि परीक्षा करना 'एटीकेट' के ख़िलाफ़ है। पर बूढ़े पति सिर जो हो जाते हैं। फिर एकांत में ले जाकर वे डा० रुद्र से क्या कहते हैं इसका अनुमान भी कर लीजिए। तो बुढ़ापे की पत्नी अपने साथ शंकाएँ भी ले आती है। यों पत्नी के पवित्र प्रेम को परीक्षा का विषय बनाने वाले को मैं, जानते हैं क्या कहूँगा? अँधेरे में देखने वाला पक्षी या धोबी के कपड़ों का साथी।

(रेडियो के सौजन्य से)

लेखक और प्रचार

आज लेखक की अनेक समस्याओं में प्रचार की समस्या बड़ा महत्वपूर्ण रूप लेकर आई है। प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता के युग में लेखक की दृष्टि न केवल साहित्य-सृजन के नये-नये रूपों में गतिशील हुई है, वरन् उसके हृदय में साहित्य को अधिक से अधिक व्यक्तियों तक पहुँचाने की लालसा भी जाग उठी है। वस्तुतः लेखक का प्रचार से सीधा संबन्ध नहीं है। प्रचार तो प्रकाशकों और व्यवसायियों का कौशल है। लेखक साहित्य का निर्माण कर चुकने पर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है, इसके अनन्तर साहित्य को प्रकाशित करने वालों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उस साहित्य को जनता के सामने रखें और उसका ध्यान सत्साहित्य की ओर आकर्षित करें।

अपने देश के प्राचीन और मध्ययुगीन कवि और लेखकों को लीजिए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से समाज और धर्म में क्रान्तियाँ उपस्थित कर दी हैं और देश के अमर साहित्य की रचना की है। ये लेखक तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। पहला वर्ग संत कवियों का, दूसरा वर्ग राजकवियों का और तीसरा वर्ग साहित्य-मनीषियों का है। पहले वर्ग के संत कवि तो एकमात्र अपने आराध्य की उपासना में लीन होकर आत्म-सन्तोष के लिए साहित्य-सर्जना करते थे। महाकवि तुलसीदास ने अपना अमर काव्य 'रामचरितमानस' केवल आत्म-सन्तोष के लिए ही लिखा :

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबंध मति मंजुल मातनोति।

नेत्रहीन कवि सूरदास और मीरां ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की भक्ति में भाव-विभोर होकर रचना की :

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै ॥

कबीर ने मानसिक भक्ति का आदर्श उपस्थित करते हुए हिन्दी में सर्वप्रथम रहस्यवाद की सृष्टि की :

नैनों की करि कोठरी पुतली पलँग बिछाय।
पलकन की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय ॥

लेखक और प्रचार

इन भक्त कवियों का दृष्टिकोण अपने जीवन के परिष्करण के साथ अधिक से अधिक समाज-परिष्करण भी कहा जा सकता है। इसके लिए उनके 'उपदेश' और 'चेतावनी' के अंग लिए जा सकते हैं, किन्तु इस उपदेश देने की प्रवृत्ति लोक-कल्याण की भावना ही हो सकती है, अपने व्यक्तिगत प्रचार की नहीं। उनकी रचनाओं ने मानव-हृदय पर सीधी चोट की है और अपने विचारों के प्रवाह में उन्होंने जनता को भी बहा लिया है। उनका प्रचार किसी विज्ञापन द्वारा नहीं हुआ, जन-जन के कंठ में उनकी वाणी फूटी और अनायास सारे देश में फैल गई।

दूसरे वर्ग के कवियों ने राजाश्रय में साहित्य की रचना की। इस प्रकार की रचना में स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही भावनाएँ देखी जा सकती हैं। वीर-पूजा और अपने राजाओं के आदर्श गुणों की प्रशंसा करते हुए वे अपने जीवन की सुविधाओं के लिए भी यत्नशील दीख पड़ते हैं। महाकवि केशवदास ने जब अपने आश्रयदाता बुंदेलखंड के अधिपति महाराज इन्द्रजीत के संबंध में लिखा कि :

जगत को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग
जाके राज केसोदास राज सो करत है।

तो इसमें जहाँ अपने आश्रयदाता की प्रशंसा है वहाँ अपने व्यक्तिगत वैभव का संकेत भी है। इस वर्ग के कवियों का साहित्य प्रचार की दृष्टि से केवल राज-दरबारों तक ही सीमित रहा। अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा के कारण वे धीरे-धीरे जनता के श्रद्धा-भाजन भी बने यद्यपि उनका प्रमुख ध्येय अपने साहित्य का प्रचार नहीं था, अपने आश्रयदाताओं के वैभव का वर्णन ही था।

तीसरे वर्ग के साहित्य-मनीषियों ने साहित्यिक रुचि और काव्य-प्रेम के नाते ही रचनाएँ लिख कर साहित्य के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। महाकवि सेनापति ने प्रकृति-चित्रण में अपनी कल्पना का प्रयोग कर कार्तिक की चाँदनी को राम के यश की उपमा दी है :

उदित विमल चन्द चाँदनी छिटक रही
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है॥

इस प्रकार के कवियों के सामने अपने साहित्य की सेवा और अपनी कल्पना की चित्रकारी प्रस्तुत करने का ही ध्येय था। यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि संत कवियों से लेकर काव्य-मनीषियों के काव्य तक की प्रवृत्ति समाज में अपना रूप-

दर्शन कराने की अधिकाधिक होती गई है। धर्म के आचार्यों ने अपने धर्म के प्रचार करने में स्थान-स्थान का परिभ्रमण अवश्य किया किन्तु लेखकों ने साहित्य के प्रचार के लिए कभी देशाटन नहीं किया। वे तो साहित्य-साधना ही को अपने जीवन का अंतिम ध्येय समझते थे।

साहित्य के प्रचार की प्रवृत्ति आधुनिक युग की देन कही जानी चाहिए। यातायात की सुविधा और मुद्रण-कला के आविष्कार ने देश के एक भाग में लिखे जाने वाले साहित्य को कम से कम समय में देश में ही नहीं, विदेश में भी प्रचारित होने का अवसर दे दिया है। प्राचीन साधारण कोटि के लेखकों के ग्रंथ भोजपत्रों, ताड़पत्रों और पांडुलिपियों में ही सीमित होकर रह गए। वे जनता में तब तक नहीं फैल सके जब तक कि जनता के कंठों से गाये जाकर वे दिशाओं में नहीं गूँजे और किसी श्रद्धालु ने उसकी प्रतिलिपि नहीं कर डाली। किन्तु यदि किसी आक्रमणकारी ने नगर या प्रान्त पर आक्रमण कर उसे जलाने की आज्ञा दे दी तो मूल ग्रंथ की लिपि और प्रतिलिपि अग्नि की लपटों में लीन हो गई। हमारे देश का बहुत सा साहित्य इसी प्रकार नष्ट हो गया है और आज हमारे पास उसका चिह्न भी अवशिष्ट नहीं है। इस प्रकार न जाने कितने कवियों और लेखकों की रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में तिरोहित हो गई हैं। किन्तु आज मुद्रण-कला से एक ग्रंथ लाखों की संख्या में छप कर समस्त भू-भाग में वितरित हो जाता है और वह संसार की किसी भी विपत्ति से नष्ट नहीं किया जा सकता। मुद्रण-कला की सुविधा ने लेखक को सरलता से लोक-विश्रुत हो जाने का अवसर दे दिया है और लेखक के सामने यह प्रश्न एक समस्या लेकर उठ खड़ा हुआ है कि क्या उसे अपने साहित्य के प्रचार के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए?

आज देश में प्रचार के साधनों की कमी नहीं है। मुद्रण-कला, विज्ञापन, कवि-सम्मेलन और परिषदें, रंगमंच, चित्रपट और रेडियो ने किसी भी प्रकार के साहित्य के प्रचार की असीम संभावनाएँ उपस्थित कर दी हैं। आज जब लेखकों की साहित्य-साधना ने व्यवसाय का रूप ले लिया है और आर्थिक दृष्टिकोण से कला और साहित्य की जाँच-पड़ताल होने लगी है तो लेखक 'स्वान्तः सुखाय' के स्वप्न-मन्दिर से निकल कर वस्तुवाद की मरुभूमि पर खड़ा हो गया है और आर्थिक लाभ के लिए अपने साहित्य को क्रय-विक्रय की वस्तु समझने लगा है। उसके साथ ही राजनीति और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों के सापेक्ष्य महत्व ने और सभ्यता एवं संस्कृति के पारस्परिक संघर्ष ने लेखकों को अपने सिद्धान्तवाद के प्रचार में अधिक जागरूक और क्रियाशील बना दिया है। देश और विदेश के लेखकों की विचार-विवेचन की प्रतिद्वंद्विता आज

उग्र रूप से हमारे सामने खड़ी हो गई है और हमें यह लगने लगा है कि क्या लेखक को अपने साहित्य के प्रचार में क्रियाशील होने की आवश्यकता नहीं है ?

प्रचार और प्रोपोगैण्डा एक भयानक अस्त्र है और उसके अनुचित प्रयोग से जब राजनीति के क्षेत्र में प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं—जो शक्ति से दबाई जा सकती हैं—तो साहित्य के क्षेत्र में तो वे प्रतिक्रियाएँ होनी सहज है जहाँ उनके लिए कोई प्रतिबंध नहीं है। यदि हम किसी कुरुचिपूर्ण सस्ते साहित्य को प्रचार के रास्ते जाने दें और जनता विज्ञापन से प्रभावित होकर उस साहित्य को पढ़ने लगे तो क्या देश में दुर्वृत्तियों के फैलने की आशंका नहीं है ? जनता को उससे कितनी हानि हो सकती है, इसका अनुमान करना कठिन है। किसी ज़माने में राम और कृष्ण-साहित्य पर सस्ते ढंग पर पुस्तकों का प्रचार हुआ और संगीत के सहारे वह गाँवों गाँवों में गाया गया। कहते हैं कि उससे धर्म का अच्छा प्रचार हुआ किन्तु मैं पूछता हूँ कि हमारे देश में धर्म का प्रचार कब नहीं था ? उतना ही बल और उतना ही अध्यवसाय यदि उत्कृष्ट साहित्य को अच्छे ढंग से प्रचारित करने में लगाया जाता तो देश का बौद्धिक या भावनात्मक धरातल कहीं ऊँचा हो गया होता। अतः सस्ती और गंदी दवाओं की भाँति जब सस्ता साहित्य लेखकों या प्रकाशकों के स्वार्थवश प्रचारित होने लगता है तो इसे देश का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। इस प्रचार से किसी व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति भले ही हो जावे किन्तु देश और समाज को जो हानि होती है वह धन के किसी भी परिमाण से नहीं आँकी जा सकती। किसी फ़िल्म-लेखक या डायरेक्टर ने क्या कभी इस बात का अनुमान किया है कि किसी कुरुचिपूर्ण कहानी के प्रचार से तरुण बालक और बालिकाओं के चरित्र को कितनी हानि पहुँची है और देश की आने वाली पीढ़ी के चरित्र-बल में जो कमज़ोरी आई है उसका रुपया, आना, पाई में क्या मूल्य है ?

सत्साहित्य का प्रचार होना आवश्यक है किन्तु यह प्रचार किसके द्वारा होना चाहिए ? क्या लेखक ही अपने साहित्य-निर्माण के थके हुए क्षणों के अनन्तर उसके प्रचार की व्यवस्था में प्रयत्नशील हो और क्या लेखक अपने साहित्य का निर्माण करने के अनन्तर उदासीन या दुःखी हो जाय यदि उसका साहित्य प्रकाशित या प्रचारित न हो ? मैंने एक एकांकी नाटक लिखा है—'कलाकार का सत्य'। उसमें महाकवि तुलसीदास एक आधुनिक अज्ञात कवि अखिल से कहते हैं :

'यदि तुम्हारी कविता प्रकाशित न भी हो तो उसका मूल्य नहीं घटता। रत्न रत्न ही है चाहे जहाँ हो। हाँ, वह नृप के किरीट और तरुणी के शरीर पर जाकर अधिक

शोभा प्राप्त करता है। तुम भी शोभा प्राप्त करोगे। मेरी कविता कहीं प्रकाशित नहीं हुई। 'रामचरितमानस' की मेरे समकालीन लोगों ने निन्दा ही की किन्तु राम-भक्ति में लिखे गए 'मानस' को कोई रोक नहीं सका। सच्चा मनुष्य वह है जो निन्दा से निराश नहीं होता।'

अथवा दूसरे स्थान पर अखिल का सहयोगी एकान्त अखिल से कहता है :

'काँटे इसलिए नहीं बढ़ते कि वे किसी पैर में चुभ कर दो आँसुओं का अपना कर वसूल करें और फूल इसलिए नहीं फूलते कि वे किसी के हार में गुँथ कर किसी की आँखों को मौन-निमंत्रण दें। फूल और काँटे अपने जीवन की पूर्णता में संतुष्ट हैं। वे संसार को अपनी दिशा में पुकारते नहीं हैं।

मेरे दृष्टिकोण से लेखक को प्रचार में उतना ही योग देना चाहिए जितना उसके साहित्य को उपयुक्त हाथों में पहुँचाने के लिए अपेक्षित है। सत्साहित्य के प्रचार का कार्य तो राजसत्ता State द्वारा ही होना चाहिए। वह अपने युग और परिस्थिति के अनुरूप लेखकों में प्रेरणा भर सके कि देश को अमुक प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है। लेखक अपने साहित्य-निर्माण में किसी के आदेश से शासित तो नहीं है तथापि वह युग के संकेत को समझेगा और साहित्य का निर्माण करेगा। राजसत्ता द्वारा उस साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए। इसके लिए राजसत्ता दो विभागों की आयोजना करे। पहला विभाग तो युग के साहित्य की उत्कृष्टता की जाँच करे और दूसरा विभाग प्रचार का क्षेत्र विविध प्रदेशों या प्रान्तों में बाँट कर साहित्य को जनता के समीप तक पहुँचाने की चेष्टा करे। इसके लिए यदि नगर और ग्राम-पुस्तकालयों की आवश्यकता हो तो वह उनका संगठन कर साहित्य का प्रचार करे, अन्यथा रेडियो, चित्रपट अथवा किसी अन्य प्रकार के विज्ञापन से वह उस जनोपयोगी साहित्य को लोकप्रिय बना दे और जनता के विचारों को मनोवांछित दिशा में विकसित करे।

आज का लेखक राजसत्ता द्वारा उपेक्षित है। लेखक क्या और किस प्रकार लिख रहा है, जीवन की किन मुसीबतों में पड़ कर उसे साहित्य-रचना करनी पड़ती है, इस पर किसी का ध्यान नहीं है। इसलिए वह जो कुछ लिखता है उसकी ओर जनता उदासीन है। कभी कभी वह स्वयं प्रचारक बन अपनी रचनाएँ बेचता है; कभी प्रकाशकों के छल और कपट से बचने के लिए वह अपनी पुस्तकें स्वयं प्रकाशित करता है; कभी अपनी रचनाओं का प्रचार करने के लिए समर्थ समालोचकों के अभाव में वह स्वयं प्रशंसात्मक लेख लिख कर दूसरों के नाम से प्रचारित करता है। आज प्रचार के नाम से हिन्दी में जो कुछ हो रहा है वह अभिनंदनीय नहीं है। अब हमारा

लेखक और प्रचार

देश स्वतंत्र हो गया है, हमारी सरकार ही हमारे भाग्य का निर्माण कर रही है। अतः मुझे आशा है कि लेखकों का भाग्य दयनीय न होगा और उनके द्वारा लिखे गए सत्साहित्य के प्रचार में राजसत्ता का सहयोग अवश्य ही प्राप्त होगा।

(रेडियो के सौजन्य से)

भाषण—१

देवियो और सज्जनो,

साहित्य सम्मेलन के गतवर्ष के सभापति पूज्य पं० अमरनाथ झा ने अपने भाषण में कहा था—'न्याय यदि किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माण में और हिन्दी के प्रचार में विश्वविद्यालयों से प्रशंसनीय सहायता मिली है।' उनके कथन की प्रामाणिकता में विश्वास रख कर आपने इस वर्ष—ज्ञात होता है—अपने कार्य-संचालन के लिए यूनीवर्सिटी की ओर दृष्टि की है और मुझे अवसर दिया है कि मैं इस साहित्य-परिषद् की सेवा करूँ। इस कृपा के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। मुझे अपनी असमर्थताओं का अभिज्ञान है। आप मुझे क्षमा करें यदि मैं इस अवसर पर प्रायः कही जाने वाली बातें अधिक न कहूँ क्योंकि इस संघर्ष के युग में अधिक शिष्टाचार की बातों में मेरा विश्वास नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार द्वेष और विचार-संकीर्णता से मुक्ति पाकर साहित्य के उत्थान में योग देना है। साहस और आत्म-विश्वास में मेरी पूरी आस्था है। मैं चाहता हूँ कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति साहस और शक्ति से संपन्न होकर साहित्य की सेवा करे। अतः मैं आपको साहित्य के इस कार्य-क्षेत्र में सस्नेह आमंत्रित करता हूँ।

आज संसार के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति मची हुई है। हमारा देश भी उससे नहीं बच सका है। निर्धन भारत में तो यह क्रांति समस्त जीवन की परिधि में अग्नि-रेखा बनकर समाई हुई है। एक तो यहाँ की जनता साहित्य के प्रति पहले से ही उदासीन थी फिर आज के जीवन की असुविधाओं ने तो उसे मानसिक भोजन की अपेक्षा शारीरिक भोजन की ओर अधिक यत्नशील बना दिया है। युद्ध की लपटों में हमारी आवश्यकताएँ और भी तृषित हो उठी हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य-सृजन और अनुशीलन के लिए अवकाश कहाँ है? फिर प्रकाशन की असुविधाएँ भारतीय किसान के जीवन की असुविधाओं की भाँति ही दिनों-दिन बढ़ रही हैं। किन्तु हमें निर्भीकता से आगे बढ़ना है और उन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करना है जिनसे हमारी गति में रुकावटें आ रही हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछली शताब्दी से हमारे साहित्य-सृजन में प्रगति आ गई है। किन्तु यह प्रगति ललित साहित्य में अधिक हुई है, उपयोगी साहित्य में

कर्म। राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि के लिए जिन-जिन साधनों की पूर्ति होनी चाहिए उनकी ओर अभी तक हमारा लक्ष्य आगे नहीं बढ़ सका है। अ-हिन्दी प्रांतों में हिन्दी के प्रचार से ही हमारे इष्ट की पूर्ति नहीं होगी। हमें हिन्दी की भौगोलिक परिधि के विस्तार के साथ ही साथ भाषा और भावों की अभिव्यंजना शक्ति के बढ़ाने की भी पूरी चेष्टा करनी है।

आज भारतीय जीवन बहुत विपन्न और असंतोषजनक है। जीवन की विवशता के साथ आर्थिक असुविधाएँ और मानसिक दुर्बलताएँ साहित्यिक जीवन के लिए अहितकर सिद्ध हो रही हैं। युग-युग से संचित की हुई एवं प्राचीन साहित्य से पोषित हमारी सांस्कृतिक भावनाएँ पिछले पहर के स्वप्न की भाँति अस्पष्ट होती जा रही हैं। हमारा देश आज अपने उस आदर्श को भूल गया है जिसकी भावना में जाति, धर्म, समुदाय और सिद्धान्तों की सीमित परिधि से मुक्त भारतीयता की अमिट छाप थी।

आज की सभ्यता क्या है? भौतिकवाद के समस्त उपकरणों को समेट कर जीवन की सुविधाओं को एकत्रित करना ही जैसे प्रत्येक सभ्य देश का आदर्श हो गया है। स्वार्थ-साधन के स्वर्ण स्वप्न से जगाने वाली कोई भी ध्वनि कर्कश और अनुचित ज्ञात होती है। जहाँ प्रेम का स्थान घृणा ने ले रक्खा है, जहाँ व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं है, वहाँ साहित्य की साधना किस आदर्श की पूर्ति कर सकती है? घृणा में साहित्य का आदर्श कभी पनप नहीं सकता, उसके लिए आवश्यक है कल्याण की भावना। हमें यह कहने में सङ्कोच नहीं होना चाहिए कि पश्चिम की सभ्यता में पारस्परिक घृणा और स्वार्थ ने प्रमुख स्थान ले रक्खा है। हमने जीवन को पहिचानने का सुलझा हुआ दृष्टि-कोण भले ही प्राप्त कर लिया हो किंतु हमारे सामने यह दृष्टिकोण बहुत संकुचित होकर आया है। आर्थिक स्वतंत्रता ने साहित्य की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया है।

भारतीयों का नैतिक जीवन संसार के समस्त अंगों में पैठकर उससे भी आगे बढ़ने का है। हमारे साहित्य का दृष्टिकोण इसी भावना में पोषित होता आया है। साहित्य का आदर्श केवल ज्ञान के रंगीन रत्न ही एकत्रित करना नहीं, उसका आदर्श है सार्वभौम मानव जीवन का ऐक्य और संगठन। देश और जलवायु की विभिन्नताए रहते हुए भी साहित्य एक अव्यक्त सूत्र से मानव-हित और सहयोग के बिखरे हुएँ पल्लवों का वंदनवार शिव और कल्याण की भावना से सरस्वती-मंदिर के चारों ओर बाँध देता है। वह देश-देश में प्रेम और शांति का दूत बनकर मानव संप्रदायों में शांति की व्यवस्था करता है। वह युगों के 'चिर प्रवास श्यामल पथ में' 'पिक-प्राणों की पुकार' की तरह गूँजता रहता है और आकाश उसकी नीली प्रतिध्वनि से अपने

को जाग्रत रखता है। वेद और उपनिषद्-साहित्य अरण्यों में लिखा जाकर भी सार्वभौम जीवन में स्पंदित हुआ है। वेद की प्रकृति-उपासना जितना आध्यात्मिक जीवन प्रशान्त करती है उतना ही सांसारिक जीवन सुदृढ़ बनाती है। जनक विदेह की सभा में याज्ञवल्क्य के प्रवचनों ने आध्यात्मिक जीवन की जितनी गुत्थियाँ सुलझाईं, उतनी ही पार्थिव जीवन की भी। रामायण और महाभारत की घटनाओं में जीवन की सहस्रमुखी धाराएँ सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन की कितनी संतप्त भूमि शीतल कर रही हैं! यही पवित्र धाराएँ जन- समुदाय की भाषा में तुलसी, सूर और मीरां की सरस वाणियाँ पाकर समस्त देश को हरा-भरा कर सकीं। शाश्वत जीवन के ये आकाश-दीप जीवन के बहुत बड़े भू-भाग पर प्रकाश डालते हैं।

लेकिन आज भारतीय युवक इन सब बातों में विश्वास नहीं रखते। वे तो पश्चिम के जीवन के अनुरागी बनकर उसी के राग गा रहे हैं। श्रीमती सरोजिनी नाइडू के शब्दों में वे पश्चिम की पीली अनुकृति मात्र (pale copies of the west) हैं। क्या वे नहीं जानते कि उनके पास जीवन का वह दिव्य संगीत है जो वे पश्चिमी बाँसुरी में फूँक सकते हैं! उनके पास भी वह रंगीन फूल का बीज है जो पश्चिम के उपवन में लगकर दर्शकों के नेत्रों में कई रंगों के प्रतिबिम्ब डाल सकता है! उनके पास भी वह माणिक है जिससे पश्चिम के प्रासाद प्रकाशित किए जा सकते हैं! प्राचीन साहित्यकारों को छोड़ दीजिए। हमारे यही नवयुवक साहित्यिक हैं जो देश के भाग्य का निर्माण करेंगे। इन्हीं की लेखनी हमारे उत्थान का इतिहास लिखेगी। आज इन्हें अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। इस समय किसी भी भारतीय साहित्यिक को अधिकार नहीं है कि वह साहित्य को अपनी व्यक्तिगत उन्नति या प्रशंसा का साधन बनाये। वह साहित्य के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसे सर्वप्रथम अपने देश की संपत्ति के रूप में साहित्य की रचना करनी है। कविता उसके लिए प्रेयसी की प्रेम-पत्रिका नहीं हो सकती, कहानी उसकी वासनामयी आत्म-कथा नहीं बन सकती, नाटक उसके लिए प्रेम का अभिनय नहीं हो सकता। नहुष ने इन्द्राणी के साथ प्रेम का जो नाटक खेला था, वह उसके स्वर्ग से निर्वासित हो जाने का संकेत था। साहित्य के क्षेत्र से निर्वासित हो जाने का ऐसा कोई संकेत दुहराया न जावे, यही हमारी प्रार्थना है।

लेखक और कवि में पूर्ण आत्मीयता चाहिए। किसी प्रकार की संकीर्णता से उसकी लेखनी कुंठित हो जाती है। उसकी वाणी मलयानिल की भाँति बहनी चाहिए जिसमें जन-जन से प्रेम हो। उसके काव्य का इंद्रधनुष पूर्व से पश्चिम तक खिंच जावे। भगवती भागीरथी की भाँति वह सब के लिए समान रूप से पवित्र हो। कवि और

लेखक के लिए किसी के प्रति घृणा करना असंभव है, वह कभी प्रतिहिंसा से अग्रसर नहीं हो सकता। और यदि उसके काव्य में घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाएँ हैं तो वह कवि नहीं हो सकता। इस महायुद्ध के अवसर पर तो उसका दायित्व और भी बढ़ गया है। प्रांतों, देशों और राष्ट्रों में प्रेम की भावना का संचार करना उसका कर्तव्य हो गया है। वर्गों में पारस्परिक द्वेष का जो अंकुर फूट निकला है, उसे छिन्नमूल करने का उत्तरदायित्व उसी पर है। सभ्यता और संस्कृति के वे स्मारक, जो इस महायुद्ध की लपटों में नष्ट होने जा रहे हैं, उन्हें अपने स्नेह के आवरण से रक्षित कर भावी संतति को सौंपना उसी का कर्तव्य है।

आज हमारा साहित्य भिन्न भिन्न प्रभावों में पोषित होकर बड़ा हो रहा है। भारतीय विचार-धारा के अंतःप्रवाह से सिंचित होकर उसने पश्चिम के प्रकाश में अपनी पंखुड़ियाँ खोली हैं। दैनिक जीवन की घटनाओं के समीर ने उसे आंदोलित किया है। उसमें जीवन के विविध दृष्टिकोणों के फूल खिल आए हैं। लेकिन एक बात है। प्राचीन फूलों की सुगंधि से इन फूलों की सुगंधि बदली हुई है। जहाँ पहले आध्यात्मिक सौरभ हमारे साहित्य का प्राण था, आज लौकिक और जीवनगत हलकी सुगंधि हमारे साहित्य को अनुप्राणित कर रही है। हमारे साहित्य ने जैसे एक नये जीवन में प्रवेश किया है। जीवन ने जैसे स्वयं अपना आत्म-विश्लेषण कर अपना प्रत्येक भाग साहित्य को समर्पित कर दिया है। सूर्य की किरण के सप्तरंगी विभाजन की भाँति जीवन का विभाजन हमारे नेत्रों के समक्ष आकर्षक और कलापूर्ण बन गया है। जिस प्रकार एक हिलता हुआ तार अपने आसपास के वायुमंडल में सहस्रों कंपन उत्पन्न कर देता है, उसी भाँति हमारा झंकृत होता हुआ जीवन मनोविज्ञान के सहस्रों कंपन में हमारे साहित्य को अगणित दृष्टि-विन्दु देता जा रहा है। आज हमारे साहित्य के पास क्षीर-शायी शेष की अनंत जिह्वाएँ हैं किन्तु उनमें विष न हो, कल्याणकारी अमृत हो! राष्ट्र को अमर जीवन प्रदान करने वाला मंगलमय सुधा-विन्दु हो!

राष्ट्रों, वर्गों और संप्रदायों में प्रेम का सरस गीत गाने वाली यह सुधा-वाणी हमारी भौतिकता में से स्वार्थ और ईर्ष्या का विष दूर कर दे! वह संकीर्णता के क्षीण दीपक को उत्सुक तारक-तेज में परिवर्तित कर सके! वह संसार के कण-कण में पैठकर विश्व-बन्धुत्व की भावना से हमारी दृष्टि को सर्वव्यापी बना सके, यही हमारी आकांक्षा है।

अपने ध्येय और दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमारे सामने जो समस्याएँ हैं, उन पर हमें विचार करना है। हमारे राष्ट्र का आदर्श बहुत ऊँचा है। हमारे देश ने अपने जीवन का जो दृष्टिकोण निर्धारित किया था, वह हमारे प्राचीन साहित्य की

वाणियों में आज भी मुखरित हो रहा है किन्तु वर्तमान विषम परिस्थितियों और प्रतिबंधों ने हमारे साहित्य में जो बाधाएँ उपस्थित कर दी हैं, उन्हें एक बार हमें सुलझी हुई दृष्टि से देख लेना चाहिए। हमें आत्म-विश्लेषण करना है, आत्म-प्रशंसा नहीं। हमारे साहित्य में आज जो अभाव हैं, उन्हें हमें दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में मैं अपने साहित्य के केवल-मात्र गुण-गौरव-वर्णन में आपका समय नहीं लूँगा। मैं द्वेष-भाव से रहित होकर अपने साहित्य के अभावों पर विचार करना चाहता हूँ। प्रशंसा के लिए बहुत समय है। भविष्य स्वयं अपने अक्षय श्रद्धा-भाव से हमारे श्रेष्ठ साहित्य का अभिनन्दन करेगा किन्तु आज हमें स्पष्ट रूप से अपनी वास्तविक परिस्थितियों को समझ लेना चाहिए। अपना विश्लेषण कर, अपनी दृष्टि बाहर न ले जाकर अपनी ही ओर मोड़ देने से आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। अपने कवि कबीर के शब्दों में मैं कह दूँ—

उलटि समाना आप में, प्रगटी जोति अनंत।

अपने साहित्य पर विचार कीजिए। प्रति वर्ष काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना के ग्रंथ बड़ी संख्या में प्रकाशित होते रहे हैं किन्तु यदि आप उनके दृष्टि-कोणों की ओर देखने का प्रयत्न करें तो आपको निराशा ही होगी। बहुत कम ग्रंथ आपको ऐसे मिलेंगे जिनमें हमारे लेखकों ने हमारे जीवन के प्रश्नों को सुलझाने में सहायता दी है। एक ही भावना या एक ही बात बदले हुए शब्दों में हमारे सामने रखी गई है जैसे सूर्य की एक किरण खिड़की के विविध रंगों के शीशों से निकल कर पृथ्वी पर इन्द्रधनुष बन गई है जिसमें कोई स्थायित्व नहीं है। जैसे साहित्य में कठिनाई से एक कंठ-ध्वनि निकल सकी है और सीमित भावों की दीवारों से उसकी अनेक प्रति-ध्वनियाँ हमारे कानों में हलकी और तीव्र शब्द-तरंगें भेज रही हैं जिन्हें हम नवीन और अभिनव मान बैठे हैं। और इसके अनेक कारण हैं :

१. हमारे आधुनिक साहित्य का आधार वास्तविक परिस्थितियों और अनुभूतियों में कम है। उसकी अभिव्यक्ति उस स्वाभाविकता के साथ नहीं हो सकी है जिसमें साहित्य जीवन का भाग बन जाता है।

२. पश्चिम के युगांतरकारी साहित्य के ज्वार में हमारे बहुत से साहित्यिकों के संस्कार बह गए हैं और वे उच्छृङ्खलता में ऐसे अस्वस्थ साहित्य का निर्माण कर रहे हैं जिनसे राष्ट्र का जीवन अशुभ हो सकता है।

३. हमारे कवियों और लेखकों में अधिकतर अनुकरण की प्रवृत्ति बनी हुई है जिससे उनके व्यक्तित्व की छाप उनकी रचना पर प्रायः नहीं बन पाती।

४. हमारे अनेक लेखकों ने साहित्य-रचना में अध्ययन, अनुशीलन और निरीक्षण की आवश्यकता नहीं समझी है। इसीलिए वे प्रथम रचना में कुछ बातें कह कर परवर्ती रचनाओं में उन्हीं को विविध शब्दों में दुहराने लगते हैं। इससे उनका दृष्टि-कोण विस्तृत नहीं हो पाता।

इन बातों पर हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। हमारे बहुत से आधुनिक साहित्यकार जीवन की वास्तविकता का रस नहीं ले सके हैं। वे वस्तुस्थिति का बोलता हुआ चित्र प्रस्तुत नहीं कर सके हैं क्योंकि उन्होंने जीवन में डूबने की चेष्टा नहीं की। बिहारी के 'अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग' उन पर अक्षरशः घटित किया जा सकता है। यही कारण है कि हमारा आज का साहित्यिक मज़दूर और किसान पर साहित्य की रचना करता हुआ हमारे हृदय में एक टीस और कंठ में एक उच्छ्वास नहीं उठा सका है। वह किसान के जीवन की कल्पना करता हुआ एक ही प्रकार की असुविधाएँ गिनाता चलता है जैसे लंदन की एक फ़र्म में एक कंजूस ख़रीदार चाकुओं के २३५ डिज़ाइनों या सिगरेट के १३६ ब्रैंडों की आलोचना करता है लेकिन लेता एक भी नहीं है। जब भारत के ८९ प्रतिशत निवासी किसान हैं और कृषि से अपनी आजी-विका चलाते हैं और उनके जीवन में प्रवेश करने के अनेक अवसर हमारे सामने आते हैं तब यदि हमारे लेखक उनके जीवन की वास्तविक अनुभूति प्राप्त न कर सकें तो आप उनकी साहित्य-साधना का क्या मूल्य समझेंगे? हमारे नवीन साहित्यिकों की लेखनी में अभी इतना बल भी तो नहीं है कि वे असन्तुष्ट जीवन के चित्रों को ज्वालामुखी का रूप दे सकें। हमारे आधुनिक साहित्यिक रूस के जिस साहित्य का अनुकरण कर रहे हैं वह सत्य और वास्तविकता में आमूल डूबा हुआ है। वह अपने दुःख में बहुत प्राचीन और आँसुओं में बहुत बुद्धि-सम्पन्न है (old in grief and very wise in tears) किन्तु हमारे नवीन लेखक रूसी साहित्य से प्रभावित होते हुए भी अपने साहित्य में जीवन की वास्तविकता नहीं ला सके हैं। एक कौतूहल और देखिए। यह रूसी साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी से शक्ति-सम्पन्न हुआ है। इसमें न पूर्वकाल है, न माध्यमिक। फिर भी भाव-संपन्नता में इस साहित्य ने प्राचीन साहित्यों से आगे क़दम बढ़ाया है। इसका कारण यही है कि यह साहित्य वास्तविक जीवन के अभावों से उत्पन्न हुआ है और इसमें क्रंदन और विद्रोह का स्वर मस्तिष्क से नहीं, हृदय से निकल कर संसार के वायुमंडल में फैल गया है। हमारे साहित्यकारों ने इसकी तीव्रता के आगे अपना सिर झुका दिया है। वे इसकी उष्णता तो प्राप्त कर सके हैं किंतु प्रकाश नहीं। जीवन पर आघात करने वाली जो प्रेरणा और आक्रमण शक्ति रूसी लेखकों के पास है

वह हमारे हिंदी लेखकों के पास नहीं आ सकी है। उदाहरण के लिए मुझे एक छोटे से प्रसंग की ओर संकेत करने की आज्ञा दीजिए। नेक्रासोव (१८२१-१८७७) रूस का एक प्रमुख लेखक हो गया है। वह एक तेजस्वी यथार्थवादी था। उसने अपने साहित्य का समस्त आक्रोश जीवन की कष्टकारक परिस्थितियों से लिया था। वह जनता का कवि था। उसने प्रकृति के अनेक चित्र खींचे हैं और वे चित्र केवल मानव-जगत के सुख-दुःख को चित्रित करने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किए गए हैं। वह किसानों का ऐसा चित्रकार है जिसमें यथार्थ की गहरी रेखाएँ हैं, आदर्श का सुनहला रंग नहीं। उसने एक कविता लिखी है। 'दि रेड नोज़ेड फ्रास्ट'। इसमें एक तीव्र कल्पना है किंतु यह कल्पना सत्य के कितने समीप है! शीतकालीन कुहरे में एक किसान-विधवा काम कर रही है। कुहरा एक राजा का रूप रख कर उसके समीप आता है और उसे शीत की अधिकता से जकड़ कर मार डालता है। जिस समय वह विधवा मर रही है उस समय यह कुहरा वीर वेश में आकर उसे अपने रजत-राज्य, हीरक और मोती के गीत सुनाता है और दूसरी ओर वह विधवा ग्रीष्म का उष्ण और मादक दिन और पके हुए अन्नों की राशि का स्वप्न देखती हुई समाप्त हो जाती है। किसान-विधवा का स्वप्न जनता के श्रमिक जीवन की कठोरता पर जो आघात करता है, वह युगों-युगों तक क्रांति की लपटें उठाता रहेगा। मैंने यहाँ रूसी साहित्य का उदाहरण इसलिए दिया है कि हमारा आज का साहित्यकार अधिकतर रूसी साहित्य से प्रभावित होकर ही अपने आगामी साहित्य की कल्पना कर रहा है यद्यपि अभी तक वह रूसी साहित्य के वस्तुवाद से मीलों दूर है। साहित्य में वास्तविकता का प्रश्न हमारे अभावों से उठता है और उन अभावों को समझने की क्षमता आज हमारे साहित्यकार में नहीं के बराबर है। इसी रूसी साहित्य के प्रभाव ने हमारे साहित्यकारों को परंपरागत साहित्यिक संस्कारों से रहित कर दिया है और आज हमारे लेखकों को अपनी रचनाओं की प्रेरणा हमारी संस्कृति से न मिल कर रूस के राष्ट्रीय सिद्धांतों से मिल रही है। यों यदि हमारे साहित्यकार चाहें तो वे अपनी अनुवीक्षण शक्ति से ही अपने देश की अवस्था से यथेष्ट सामग्री प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वे अपने जीवन से ही ऐसी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं कि वह अन्य देशों के जीवन के लिए भी अनुकरणीय बन सकती है पर संभवतः हमारे साहित्यिकों को अपने देश और अपनी राष्ट्रीयता में अधिक महत्व ज्ञात नहीं होता।

पश्चिम के युगांतरकारी साहित्य से हमारे साहित्य का जितना हित हुआ है, उतना अहित भी। पश्चिम के साहित्य से हित तो यह हुआ है कि हमारे साहित्य का

दृष्टिकोण बहुत व्यापक और विस्तृत हो गया है। जीवन के लौकिक पक्ष के प्रति हम अधिक जागरूक हो गए हैं और संसार के विविध क्षेत्रों की प्रगति को भी हम साहित्य की सीमा में बाँध सके हैं। हमारी दृष्टि ललित साहित्य में ही केंद्रीभूत न होकर उपयोगी साहित्य की ओर भी गई है और साहित्य की परिधि अनेक विषयों को घेर कर बहुत विस्तृत बन सकी है। हम अपने जीवन में अनेक द्वारों से प्रवेश पा सके हैं और अपने अनुभव को अधिक सक्रिय बना सके हैं। साहित्य और भाषा को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर समझ कर हम विश्व-साहित्य से अपना संबंध जोड़ने में समर्थ हो सके हैं। किंतु इन सब हितों के साथ जो अहित हुए हैं उन पर भी हमारी दृष्टि चली जाती है। पहली तो साहित्यिक संस्कारों की बात है। यह तो मैं मानता हूँ कि साहित्य अपनी चरम उन्नति में सर्वजनीन बन जाता है किंतु वह जिस समाज और जिस राष्ट्र में निर्मित होता है उसके संस्कारों की छाप नहीं भूल जाता और यदि साहित्य अपने संस्कारों को भूल जाय तो फिर उस साहित्य का कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। आप फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड और रूस के साहित्यों के उदाहरण लीजिए। प्रत्येक साहित्य के पीछे उसके राष्ट्र की युग-युग की साधना छिपी रहती है। शेक्सपीयर के नाटकों में, टाल्स्टाय की कहानियों में, तुलसीदास के काव्य में क्या हम विश्वजनीनता नहीं पाते? किंतु इन महान् साहित्यिकों के राष्ट्रगत संस्कार उनके साथ हैं। स्वर्गीय प्रेमचंद की कहानियों में भारतीय आदर्श पूर्ण स्वाभाविकता लिए हुए हमारे जीवन की प्रगतिशीलता का द्योतक है। स्वर्गीय प्रसाद के नाटकों में हमारे प्राचीन इतिहास के चरित्रों में जो जीवन स्पंदित हो रहा है, वह उन्हें सदैव भारतीय राष्ट्र का कलाकार घोषित करेगा। आधुनिक कलाकार अपने राष्ट्रगत समस्त संस्कारों को मिटा कर रूस या इंगलैंड के आदर्शों का अन्धानुकरण कर रहे हैं। हम यह मानते हैं कि मानवता में एक क्रांति फैल रही है और समस्त संसार के राष्ट्र संभवतः किसी दिन एक ही परिवार के सदस्य होंगे किंतु भावी मनुष्य की संस्कृति के निर्माण में भारतीय विचार-धारा का क्या योग होगा यदि हम किसी भी राष्ट्र के ग्रामोफ़ोन बनकर अपनी मौलिक भावनाओं को भूल जायँ? आज रूस ने राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में जितनी क्रांति उपस्थित की है उतनी किसी भी देश ने उपस्थित नहीं की। क्या आगामी कल की संस्कृति रूस की इस क्रांतिकारी भावना को अपने विकास के इतिहास में स्थान न देगी? हमारे प्राचीन साहित्य को देखिए। क्या इस प्रकार की क्रांतियाँ हमारे देश में नहीं हुईं? यह बात दूसरी है कि मानवता का संघर्ष इतने बड़े पैमाने पर कभी न हुआ हो और आज का संसार पुराने अनुभवों से शक्ति-संपन्न होकर कल

के संसार से अधिक समझदार हो गया हो किंतु क्या हम अपनी प्राचीन क्रांतियों के आधार पर नवीन क्रांति की योजना में अपने स्वतंत्र विचारों से मानव-संस्कृति को अधिक शक्ति प्रदान नहीं कर सकते ? यह तभी संभव है जब संसार की आज तक की प्रगति पर दृष्टि रखते हुए हम अपने संस्कारों और समाजगत दृष्टिकोणों को विकसित कर एक नवीन और व्यवस्थित दृष्टिकोण संसार को दें। मैं इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि पश्चिम के प्रवाह में भारतीय विचार-धारा के लिए कोई स्थान ही नहीं है और हमारे साहित्य में उन्मेष तभी आ सकता है जब हम रूस या इंगलैंड के क्रांतिकारी विचारों के भाग-मात्र बन कर अपने साहित्य का निर्माण करें।

इस पश्चिम के साहित्यगत अंधानुकरण का सबसे बड़ा प्रभाव तो यही है कि हम आज तक अपने साहित्य की आलोचना के सिद्धांतों का निर्माण नहीं कर सके हैं। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के काव्य संबंधी सिद्धांत तो हम भूल ही गए हैं क्योंकि हमारी कविता आज 'रस' के सिद्धांत से नहीं चलती। हमारे नाटकों में संस्कृत का नाट्य-शास्त्र काम नहीं देता। उनमें न प्राचीन नाटकों की अर्थ-प्रकृतियाँ हैं, न संधियाँ हैं, न अर्थोपक्षेपक हैं, न नायकों के वर्ग हैं, न रस के सिद्धांत हैं और न वृत्तियाँ हैं। 'नांदी' और 'भरतवाक्य' तो हो ही नहीं सकते क्योंकि आधुनिक नाटककारों का ईश्वर की प्रार्थना या मंगलकामना में कोई विश्वास नहीं है। हमारे महाकाव्य या खंडकाव्यों का निर्माण किस सिद्धांत के आधार पर होगा, हम कह नहीं सकते। पश्चिमी आलोचना-पद्धति के भीतर उसकी समस्त प्राचीन साहित्य-साधना है। उसके पीछे उसका एक इतिहास है। हम करते यह हैं कि विदेशी साहित्यिक परंपराओं से बने हुए साहित्यिक सिद्धांतों को हम भारतीय परिस्थितियों में बने हुए साहित्य पर लाद देना चाहते हैं और उसके गुण-दोषों का विवेचन करना चाहते हैं। हम जानते हैं कि हमारा साहित्य पश्चिम के प्रभावों से बन रहा है किंतु उसके निर्माणकर्ता भारतीय हैं। वे भारतीय परिस्थितियों के बीच पले हैं। युग-युग के संस्कार उनके रक्त में घुल-मिल गए हैं। उनसे आवाज़ आ रही है कि हमारे देश की जल-वायु भिन्न है, मनुष्यों का रहन-सहन भिन्न है, उनकी परंपराएँ और विश्वास भिन्न हैं, उनके जीवन की अवस्थाएँ भिन्न हैं। इन सब के योग से निर्मित साहित्य को पश्चिम के आलोचना-सिद्धांतों पर कसना भारतीय साहित्य के प्रति अन्याय करना है। हमें चाहिए कि संस्कृत के साहित्यिक आदर्शों और पश्चिम की आलोचना-पद्धति में एक समझौता करें। आधुनिक भारतीय भाषाओं के आलोचना-सिद्धांतों का निर्माण होना चाहिए जिनमें हमारी परिस्थितियों से उत्पन्न साहित्य का पश्चिमी प्रभावों के मेल से जो रूप निकले उसका यथोचित मूल्यांकन हो सके। प्राचीन

रस-सिद्धांतों में समयानुसार संशोधन हो, भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों में कुछ परिवर्तन किया जाय। हम अपने महाकाव्यों और खंडकाव्यों के लिए निश्चित आदर्श बना सकें और संसार के काव्य-साहित्य को नवीन शैलियाँ और जीवन के स्वतंत्र दृष्टिकोण दे सकें।

पश्चिम के यथार्थवाद से हम अपने साहित्यगत व्यक्तित्व को तो भूल ही गए हैं, साथ ही हम अपनी उच्छृङ्खलता में साहित्य की समस्त मर्यादाओं को मिटाने का साहस भी करने लगे हैं। हमने अपनी कविता की स्वतंत्रता में छंद को सबसे बड़ा बंधन मान कर उसके हाथ-पैर तोड़ डाले हैं। जब मात्राओं की क़ैद हमें असह्य है तो वर्णवृत्तों के 'गणों' की तो बात ही जाने दीजिए। उन्हें तो हम शिवजी के गणों से भी अधिक भयानक समझ बैठे हैं। मर्यादाओं को तोड़ने का जोश तो इतना भीषण हो गया है कि कुछ कवियों ने व्यक्तिगत सदाचार को भी तिलांजलि दे दी है। अश्लील से अश्लील पंक्ति लिखने में उन्हें हिचक नहीं होती। नारी को वे गाली दे रहे हैं और दुःशासन की भाँति उसका वस्त्र खींचने में अपनी शक्ति की पूर्ति समझ रहे हैं। ऐसे कवि अपने को प्रगतिशील कहते हैं।

मैं अपने ऐसे बंधुओं से प्रार्थना करूँगा कि वे प्रगतिशीलता का यथार्थ दृष्टिकोण समझने की चेष्टा करें। वे नारियों के शील की रक्षा करें, अपने दृष्टिकोण में मानव बनें और वर्ग-भेद दूर करने के लिए घृणा के बदले सौहार्द का अवलंबन करें। आप विश्वास मानिए, घृणा का साहित्य राष्ट्र-निर्माण में सहायक न होगा। मैं आल इंडिया प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन से भी प्रार्थना करूँगा कि वह इन नवीन कवियों का दृष्टिकोण संशोधित और परिमार्जित करने में सहायक हो।

हमारे नवीन साहित्यकारों की यथार्थवाद सम्बन्धी नग्नता के साथ अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई है। हमारा लेखक अभी तक अपने विचारों और सिद्धांतों में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सका है। वह अपने साहित्यिक जीवन में कीट्स और शैली अथवा टाल्सटॉय और चेख़ाव तो बनना चाहता है किंतु वह स्वयं जो कुछ है, वह नहीं बनना चाहता। यही कारण है कि उसकी रचनाओं पर व्यक्तित्व की छाप नहीं होती।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिम के साहित्य से कोई लाभ न उठाया जाय। हमारे साहित्य के दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाने के लिए यदि पश्चिम का साहित्य किसी प्रकार सहायक हो सकता है तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए किंतु जो सामग्री हम बाहर से लें उसे हम अनुशीलन और मननपूर्वक

अपनी बना कर लें। अपनी आवश्यकता के अनुसार हम बाहर की सामग्री में काट-छाँट भी कर सकते हैं किन्तु हम अपने अनुभव और विवेक बुद्धि की कड़ी आँच में विदेशी साहित्य को तपा कर परखने और स्वीकार करने के आदी नहीं हैं। इसीलिए हम अपनी रचनाओं पर विदेशी रचनाओं का व्यक्तित्व लाद देते हैं। जिनका विदेशी साहित्य से परिचय नहीं है वे अपने ही साहित्य के कवियों और लेखकों का अनुकरण करते हैं। आज हमारे कितने कवि पं० सुमित्रानंदन पंत के संस्करण बन रहे हैं। भावों के अनुकरण की बात जाने दीजिए कितने कवियों ने उनके शब्द-विन्यास को ही जैसे का तैसा उठा लिया है! और इसका कारण यह है कि हमारे लेखकों में अध्ययन और अनुशीलन के लिए बहुत कम उत्साह है। हमारे साहित्य में ऐसे कितने लेखक हैं जिन्होंने हिंदी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की जानकारी प्राप्त की है, जो हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यों के भाव-सौंदर्य से परिचित हैं? अथवा ऐसे लेखक भी कितने हैं जिन्हें अपने हिंदी साहित्य के इतिहास का ही पूरा ज्ञान है? आपको क्लेश होगा जब आप यह जानेंगे कि ऐसे लेखकों की संख्या अधिक नहीं है। हिन्दी के अधिकांश लेखक अन्य साहित्यों की सुनी-सुनाई बातों पर ही अपने साहित्यिक ज्ञान का विज्ञापन करते हैं। जब उनका साहित्यिक ज्ञान इतना सीमित और अधूरा है तब वे समाज और देश को क्या संदेश देंगे! बिना अध्ययन और अनुशीलन के उच्च कोटि के साहित्य की रचना विरले साहित्यकारों में ही होती है। साधारणतः साहित्य के निर्माण में एक व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है और उसके लिए अध्ययन और अनुशीलन अपेक्षित है। यही कारण है कि हमारा समालोचना-साहित्य अभी तक श्री-संपन्न नहीं हो पाया। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने समालोचना के जिस आदर्श की ओर संकेत किया था, वह आदर्श कितने लेखकों द्वारा प्राप्त किया जा सका? दो एक अच्छे समालोचकों को छोड़ कर समस्त हिन्दी साहित्य समालोचकों से रंक है। आये-दिन पत्र-पत्रिकाओं में जो समालोचनाएँ निकलती रहती हैं, वे पाठकों के साहित्य संबंधी निर्णयों के निर्माण में कितनी सहायक हैं, यह आप लोग स्पष्ट देख रहे हैं। इधर कविता के संबंध में जो थोड़ी बहुत निर्भीक समालोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं वे आगे चलकर इतनी व्यक्तिगत और पारस्परिक राग-द्वेष से पूर्ण हो गईं कि उनका उद्देश्य ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। हमारे साहित्यिक मित्र भी तमाशबीन बनकर दो सूरमाओं का द्वन्द्व देखने का मज़ा लेने लगे और साहित्य की समालोचना एक ओर ही रखी रह गई। सच्ची समालोचना के अभाव में साहित्य का नियंत्रण भी नहीं हो सका है और वह ढालू ज़मीन के पानी की तरह चाहे जिधर बहने लगा है। जब तक हमारे लेखकों

में अध्ययन और अनुशीलन के लिए विशेष उत्साह न होगा तब तक हमें सच्चे साहित्य के निर्माण की आशा नहीं करनी चाहिए।

इधर मुझे कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि हमारे हिन्दी साहित्य के अनुभवी और ख्याति प्राप्त लेखक कुछ विशेष नहीं लिख रहे हैं। क्या हम यह मान लें कि वे जो कुछ लिखना चाहते थे, लिख चुके? अथवा वर्तमान परिस्थितियाँ ऐसी हो गई हैं कि उन्हें लिखने की कुछ प्रेरणा नहीं मिल रही है? कवियों में श्री मैथिलीशरण जी के 'कुणाल-गीत', 'अर्जन और विसर्जन', 'काबा और करबला' आदि ग्रन्थों के सिवाय किसी अन्य कवि की कोई नवीन कृति देखने में नहीं आ रही है। महादेवीजी की 'दीप-शिखा' से हमें प्रकाश अवश्य मिला था। प्रेमचन्द और प्रसादजी के बाद हमें उपन्यास, कहानी और नाटक साहित्य सूना-सा ज्ञात हो रहा है। इधर कुछ कहानियाँ श्री भगवती-प्रसाद वाजपेयी और श्री चन्द्रवती ऋषभसेन जैन द्वारा अवश्य अच्छी लिखी गईं। श्री उदयशंकर भट्ट के एकांकी नाटकों का संग्रह भी अच्छा प्रकाशित हुआ। डा० धीरेन्द्र वर्मा का ग्रंथ 'योरप के पत्र' अपनी शैली और दृष्टिकोण में सर्वथा नवीन और मौलिक हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं के बाद समालोचना की पुस्तकें अन्यमनस्कता से लिखी जा रही हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री गुलाबराय, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी और श्री शांतिप्रिय द्विवेदी इस क्षेत्र में अवश्य प्रयत्नशील हैं। साहित्य पर नियंत्रण रखने वाले जितने भी अधिक समालोचक हों, साहित्य के हित में उतना ही अच्छा है। नवीन लेखकों की कृतियों में अवश्य अधिकता हो गई है किन्तु खेद है कि उनका बहुत सा भाग अल्पायु है। वह बहुत दिनों तक हमारा साथ नहीं देगा। क्या हम एक बार अपने लेखकों से अनुरोध करें कि वे साहित्य-साधना में पुनः प्रवृत्त हों! सब से बड़े आश्चर्य की बात यह है कि हमारे चारों ओर घटित होने वाली घटनाओं से हमारे लेखक और कवि अ-प्रभावित से ही रहे हैं। वर्तमान महायुद्ध की विषम परिस्थितियों में जीवन कैसा असुविधाजनक हो गया है! मानवता के मूल पर कुठाराघात हो रहा है, लाखों की संख्या में मनुष्य मृत्यु के अंधकूप में गिर रहा है, क्या इसकी छाया हमारे कृतिकारों की लेखनी तक नहीं पहुँची है? कितने कवियों और लेखकों ने जीवन की वर्तमान चीत्कारपूर्ण ध्वनियों और प्रतिध्वनियों में अपने हृदय का उच्छ्वास निकलते देखा है? दूर क्यों जाते हैं? हमारे देश की सब से महान् आत्मा ने इक्कीस प्रभातों में अपने पुण्य-व्रत की कसौटी पर सत्य के कंचन की लीक खींची। क्षीण होती हुई शक्ति ने जीवन की जिस संदिग्ध भावना को जगा दिया था, उससे कितनी लेखनियाँ कागज पर चल सकीं? केवल एक कवि ऐसा है जिसकी लेखनी उस

महात्मा के हृदय-स्पंदन के साथ दौड़ती रही। मेरा संकेत श्री सियारामशरण गुप्त से है। यों दो-तीन कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा भी है, किन्तु वह अधिक नहीं है। क्या महात्माजी के अमूल्य प्राणों की संदिग्धता भी हमारे कवियों और लेखकों में आशंका के भाव नहीं भर सकी ? मैं तो आशा करता था कि महात्माजी के व्रत के इक्कीस दिनों का साहित्य हिन्दी का ऐसा साहित्य होता जो पिछले इक्कीस वर्षों में न लिखा गया होता।

ललित साहित्य के साथ ही साथ उपयोगी साहित्य की भी हमें बड़ी आवश्यकता है। उपयोगी विषयों की विवेचना से ही साहित्य में बल आता है। वह एक ओर जनता को नये नये विषयों की जानकारी कराता है तथा दूसरी ओर विश्वविद्यालयों में अपनी भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाता है। इस क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और संग्रह की बड़ी आवश्यकता है। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग ने पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले लिया है। उसके द्वारा अर्थशास्त्र, व्यापार, इतिहास, राजनीति, भूगोल, दर्शन, क़ानून, भाषाविज्ञान और व्याकरण, काव्यशास्त्र, रसायन, भौतिक, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, कृषि, गणित, ज्योतिष और शिक्षा आदि विषयों के एम० ए० या एम्० एस-सी० डिग्री तक के लिए विशिष्ट और पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की योजना बन गई है। आवश्यकता इस बात की है कि उपर्युक्त विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना यथासम्भव शीघ्र ही हो जिससे विश्वविद्यालयों की ऊँची से ऊँची कक्षा की पढ़ाई के लिए हिन्दी ही में पाठ्य-ग्रन्थ प्राप्त हो सकें। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' और श्री दयाशंकर दुबे की 'अर्थ-शास्त्र की रूपरेखा' की भाँति यदि अन्य विषयों की रूप-रेखाओं पर भी ग्रन्थ लिखे जा सकें तो हमारे उपयोगी साहित्य का बहुत हित होगा।

यह तो रही आत्म-विश्लेषण की बात जो बिना किसी पक्षपात या द्वेष भाव से लिखी गई है। किसी भी व्यक्ति के प्रति मेरा अनुचित संकेत नहीं रहा है, मैंने तो साहित्य की वर्तमान रूप-रेखा पर दृष्टि-निक्षेप करते हुए सद्भावनाओं से प्रेरित होकर ये बातें लिख दी हैं। अब मैं आपके सामने कुछ ऐसी बातें प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिनसे हमारा साहित्य अधिक समृद्धशाली बन सकता है। साहित्य के अध्ययन और मनन के फलस्वरूप जो बातें मेरे हृदय में उठी हैं उन्हीं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह है कि हमारी कविता में अभिव्यंजनात्मक शब्दों की विशेष कमी है या यों कहिए कि वर्तमान प्रगति को ध्यान में रखते हुए हमारे पास काव्य-

शब्द बहुत परिमित हैं। इन शब्दों के अभाव में हमारी भावनाओं और कल्पना-प्रसूत चित्रों की मूर्त अभिव्यक्तियों में बड़ी कमी आ रही है। हम अभी तक भावों की सूक्ष्म रूप-रेखा के अनुरूप विशेषण नहीं बना सके हैं। यदि हम अंग्रेज़ी काव्य में ऐसे विशेषणों को खोजें तो उनकी संख्या लाखों से ऊपर पहुँचेगी। हमारे मन में जब चित्रों का क्रम तीव्र गति से चलने लगता है तब उनके यथावत् रूप-रंग को स्पष्ट करने के लिए हमें अपरिमित शब्द-भांडार की आवश्यकता हुआ करती है। जब कोई अभिनेता अभिनय के लिए रंगमंच पर जाने की तैयारी करता है तो उसके पास वस्त्रों के विविध प्रकार का संग्रह अपेक्षित है जिसमें से वह अपने अभिनय के अनुकूल वस्त्र चुन कर अपने कार्य को अधिक से अधिक प्रभावशाली बना सके। जब कोई चित्रकार किसी दृश्य का चित्रांकन करने बैठता है तो उसे रंगों की हलकी और गहरी छटा की अनेक तूलिकाओं की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार कवि को अपनी काव्य-सामग्री में एक विचार को व्यक्त करने वाले तरह-तरह के शब्दों की हलकी और गहरी भाव-पूर्ण शब्दावली की आवश्यकता होती है। हमारे भाव चाहे अपनी व्यापकता में अतुलनीय हों किंतु यदि उनके अभिव्यंजन के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं तो उन भावों की यथोचित प्रभावोत्पादकता पाठक के पास तक कैसे पहुँच सकती है? यथोचित शब्दों के अभाव में हम कभी साधारण, कभी संकीर्ण, कभी शक्तिशाली और कभी बहुत अशक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं और हमारे तीर लक्ष्य-वेध करने के पहले ही धराशायी हो जाते हैं। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त जब हम अनुवाद का कार्य करना चाहते हैं तब भी यदि हमें उपयुक्त शब्दों का अपरिमित कोष प्राप्त न हो तो हम मूल लेखक के भावों की तीव्रता और उसकी वास्तविक भाव-व्यंजना स्पष्ट करने में असमर्थ होते हैं। इसीलिए प्राचीन काल से शब्दों के अपरिमित भांडार की ओर साहित्यकारों का ध्यान था। हमारे साहित्य में 'अमरकोष' अथवा 'अनेकार्थ नाममाला' की आवश्यकता का कारण यही था। पश्चिमीय साहित्य में सिसरो और क्विनटिलियन ने भी इस विचार को प्रमुख रूप से साहित्य-निर्माताओं के लिए परमावश्यक समझा था। अंग्रेज़ी में तो शब्दों के रूपक तक बन गए हैं और साधारण जनता में उनका प्रयोग बड़ी सरलता और स्वाभाविकता के साथ होने लगा है। उदाहरण के लिए 'यान' (yawn) शब्द लीजिए जिसका अर्थ है, जँभाई लेना। जँभाई लेने में आदमी अपना मुँह राक्षस की तरह बड़ी भयानकता से खोलता है। ओंठ एक दूसरे से अधिक से अधिक दूर हो जाते हैं। इसी दूरी का भाव लेकर 'यान' को क्रियारूप भी दे दिया गया। 'ए बिग डिस्टेंस यान्स बिटवीन दि टू'। इस समय जब संसार की अनेक भाषाओं में साहित्य-

निधि सञ्चित हो रही है तो हमें उस निधि को अनुवाद के रूप में अपनाने के लिए और वस्तुओं की स्थिति, सादृश्य, प्रमाण, क्रम, संख्या, शक्ति, गति आदि को मौलिक रूप से प्रदर्शित करने के लिए नये-नये शब्द गढ़ने और प्रचलित करने की आवश्यकता है। आप रंगों का ही उदाहरण लीजिये। आपके बाग़ में कितने रंगों के कितने फूल हैं। लाल रंग के पच्चीसों हलके और गहरे रंग हैं। उनके लिए आपके पास कितने शब्द हैं? अंग्रेज़ी में 'लाल' रंग के तरह-तरह के हलके और गहरे 'ह्यूज़ और 'टिंट्स' (इन दोनों अंग्रेज़ी शब्दों के हिंदी पर्यायवाची क्या हैं?) के लिए कुछ थोड़े से शब्द देखिए :

रैड (red), स्कारलेट (scarlet), वरमिलियन (vermilion), क्रिमसन (crimson), कारमाईन (carmine), पिंक (pink), मैरून (maroon) (कारनेशन) carnation, डैमस्क (damask), रूबी (ruby), रोज़ (rose), ब्लश कलर (blush colour), पीच कलर (peach colour), फ्लैश कलर (flesh colour), गूल्स (gules), सालफ़रिनो (solferino), आरोरा (aurora) आदि। इनकी बराबरी में हमारे पास शब्द नहीं हैं। लाल की तरह और भी रंग लिए जा सकते हैं। आश्चर्य तो यह है कि हमारा देश प्रकृति का सुरम्य आगार है। लाखों तरह के वन-पुष्प यहाँ स्वप्नों के इन्द्रजाल की तरह खिलते हैं लेकिन इनके लिए हमारे पास लाल, पीले, नीले या कुछ और शब्दों के सिवाय कोई विशेष शब्द-भांडार नहीं है जिसमें हम अपने फूलों के सौंदर्य का स्पष्टीकरण कर सकें। इसी प्रकार विशेषण और क्रिया-रूपों की भाव-विविधता और रूप-संपन्नता की हमें बहुत आवश्यकता है। मैं अपने अंग्रेजी जानने वाले पाठकों के सामने महाकवि शैली का एक अवतरण रखता हूँ जो उसकी कविता 'ए समर इवनिंग चर्चयार्ड' से लिया गया है। आप देखें कि भावों की पूर्णता के लिए विशेषण और क्रिया-पदों का प्रयोग कितनी उपयुक्तता के साथ किया गया है :

The dead are sleeping in their sepulchres,
And mouldering as they sleep, a thrilling sound,
Half sense, half thought, among the darkness stirs,
Breathed from their wormy beds all living things around,
And mingling with the still night and mute sky
Its awful hush is felt inaudibly.

मैंने यह एक छोटा सा उदाहरण दिया है, इसी तरह के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। मुझे कविता लिखते समय ऐसे अभाव बहुत खटकते हैं। मैं अपने पूज्य और मित्र कवियों से प्रार्थना करूँगा कि वे इस प्रकार के 'काव्य-शब्दों' का निर्माण करें।

दूसरी बात यह है कि हमारी साहित्यिक भाषा और जन-समुदाय की बोली का समन्वय होना आवश्यक है। यह देखने में आ रहा है कि आधुनिक खड़ी बोली की कविता धीरे-धीरे जन-समुदाय से दूर होती जा रही है। एक तो उसकी कल्पना अवास्तविक होती जा रही है और दूसरे उसमें संस्कृत के कठिन शब्द अधिकाधिक मात्रा में प्रविष्ट होते जा रहे हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमें संस्कृत से दूर न होना चाहिए 'संस्कृत-ता' से दूर होना चाहिए। तुलसीदास के 'मानस' में संस्कृत के हज़ारों तत्सम शब्द हैं किन्तु उनका प्रयोग उन्होंने इस कौशल से किया है कि उससे जनता की मानसिक भावभूमि को बहुत उर्वर-शक्ति प्राप्त हुई है। हमें अपनी कविता के नैतिक दृष्टिकोण को भी ठीक करना है। जो कविता समाज के साथ हँसते हुए उसे मनोविज्ञान के उन्नत सोपान तक नहीं ले जा सकी, उसकी महत्ता ही क्या रही? तुलसीदास की सरस भावज्ञापन शैली जब केशव के अलंकारों में बद्ध हो गई तो रीतिकाल की कविता कितनी संकुचित हुई, यह हिन्दी साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं। इसी तरह मिलटन की कविता के बाद बहुत वर्षों तक अंग्रेजी में स्वच्छंदता और स्वाभाविकता नहीं आ सकी। हमारे कवियों को जीवन की सहज अनुभूतियों के साथ जनता की कल्पना के अत्यन्त समीप तक पहुँचना है। तभी वे अपनी भाषा के लिए जनता का संगठित बल एकत्र कर सकेंगे। इस समय यह हमारी बड़ी आवश्यकता है।

तीसरी बात यह है कि हमारी कविता में अन्य भाषाओं की शैलियों को भी हृदयंगम करने की क्षमता हो। अंग्रेज़ी काव्य के नवयुग की शैली की विविधता और उर्दू की व्यंजनापूर्ण संक्षिप्त शैली की संपन्नता की ओर से हमें आँखें बंद नहीं करनी चाहिए। हमें ग्रामगीतों की सरलता भी चाहिए। इस प्रकार हमारी कविता में प्रत्येक प्रकार के भाव कला की प्रत्येक शैली में प्रकट किये जा सकते हैं।

चौथी बात कहानियों और उपन्यासों के सम्बन्ध में है। हमारा कहानी-साहित्य उन्नति के साथ बढ़ रहा है किन्तु उसमें कला की अपेक्षा परिमाण की वृद्धि ही अधिक हो रही है। केवल कहानी के ही बहुत से पत्र निकल रहे हैं जिनका उद्देश्य अधिकतर यही है कि रेलवे के यात्री ट्रेन में बैठकर भी क़हानी के सहारे वायुयान की गति से अपनी यात्रा समाप्त कर सकें। ऐसी कहानियों में एकमात्र मनोरंजन के छींटे और

वासना के चटकीले चित्र ही रहते हैं। इनसे जनता का क्या हित हो सकता है! देवकीनंदन खत्री के साहित्य से यह कहानी-साहित्य किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। इसमें भी प्रेम के तिलिस्म तोड़े जाते हैं और कालेज के विद्यार्थी ऐयार बनते हैं।

इन कहानियों के प्रकाशक यदि एकमात्र व्यावसायिक दृष्टि ध्यान में न रख कर साहित्य के प्रति थोड़ा भी उत्तरदायित्व रखें तो हिन्दी का बड़ा उपकार होगा। प्रयाग का साप्ताहिक 'अभ्युदय' अपने आदर्श का निर्वाह उचित रूप से कर रहा है। प्रकाशकों के पास कहानी-पत्र के रूप में जनता को आकर्षित करने का साधन यथेष्ट मात्रा में है। यदि वे जनता को कहानी से साहित्य की कला का परिचय भी करा दें तो उनके द्वारा अप्रत्यक्ष और अज्ञात रीति से साधारण पाठक भी साहित्य के उपासक बन सकते हैं। क्या हम कहानी-पत्रों के सम्पादकों और प्रकाशकों से इस बात की आशा करें कि वे जनता के हृदय में जीवन की सरस अनुभूतियों के सुथरे चित्र कहानी-कला द्वारा रखने की चेष्टा करेंगे? उपन्यास लेखन में अधिक उत्तरदायित्व है, उसकी ओर लेखकों का ही ध्यान जाना उचित है।

पाँचवीं बात नाटकों के संबंध में है। हमारे नाटक चित्रपट के आलोक में हतप्रभ से हो रहे हैं। फिर हमारे नाटककारों ने अपनी साहित्यिकता में रंगमंच को निर्वासित-सा कर दिया है। नाटक की उपयोगिता उसके अभिनय में अधिक है। पाठ्य-नाटक उपन्यास से अधिक भिन्न नहीं कहे जा सकते। अतः नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए उसे रंगमंच की कला से जोड़ना आवश्यक है। एक तो हमारे बहुत से नाटककार रंगमंच की व्यवस्था से अनभिज्ञ हैं, दूसरे उन्हें नाटक लिखने के लिए कोई प्रोत्साहन भी नहीं है। नाटक को कलात्मक रूप देने का कार्य सब से अधिक शिक्षा-संस्थाओं द्वारा किया जा सकता है। यदि वे प्रत्येक समारोहों में नाटक के अभिनय की व्यवस्था करें और नाटककारों को पुरस्कार देकर नाट्य-साहित्य की रचना में प्रयत्नशील हों तो साहित्य के इस निर्बल अंग में पुनः शक्ति का संचार हो सकता है। शिक्षा-संपन्न युवक नाटक-साहित्य की रचना में अधिक सफल हो सकते हैं, यदि वे अनवरत रूप से साधना करें।

इन सब प्रश्नों के साथ जो बात बहुत आवश्यक है, वह यह कि हमें अधिक से अधिक प्रांतीय भाषाओं के साहित्य से परिचित होना चाहिए। हम एक ऐसी समिति का संगठन करें जिसमें गुजराती, बंगाली, मराठी, पंजाबी, ओड़िया, सिंधी तथा तामिल, तेलगू, कनाड़ी और मलयालम भाषाओं के विद्वान् प्रतिनिधि मिल कर साहित्य संबंधी विचार-विनिमय करें तथा साहित्य की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करें। मुझे

स्मरण आता है कि कुछ इसी प्रकार का मंतव्य सम्मेलन के २४वें अधिवेशन में, जो इंदौर में हुआ था, स्थिर किया गया था। इसके लिए एक समिति भी बनाई गई थी जिसके संयोजक श्री कन्हैयालाल मुंशी थे। किंतु विषम परिस्थितियों ने इस कार्य को आगे नहीं बढ़ने दिया। हमें इस कार्य के लिए पुनः चेष्टा करनी चाहिए। विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम में प्रांतीय भाषाएँ वैकल्पिक रूप से रक्खी जा सकती हैं।

हमें यह जान कर प्रसन्नता होती है कि हमारी साहित्यिक संस्थाएँ अब अधिक ठोस कार्य करने के लिए अग्रसर हो रही हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा, भारतीय हिंदी परिषद् और हिंदुस्तानी एकेडेमी अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती हैं। नागरी प्रचारिणी सभा शीघ्र ही अपनी अर्धशताब्दी मनाने जा रही है। इस अवसर पर सभा ने हिंदी साहित्य और कला के विविध अंगों को प्रस्तुत करने का विशाल आयोजन किया है। मेरी प्रार्थना तो यह है कि यदि ऐसे अवसर पर सभा द्वारा भारतीय भाषाओं के अनुशीलन के फल-स्वरूप आलोचना-शास्त्र के सिद्धांतों का निर्माण हो सकता तो साहित्य के विकास में एक नवीन प्रगति आ सकती। इसके साथ ही साथ यदि नवीन खोजों के परिणाम-स्वरूप हिंदी साहित्य का एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जावे तो साहित्य के विद्यार्थियों का विशेष उपकार होगा।

प्रयाग की भारतीय हिंदी परिषद् डा० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में विशेष महत्व के कार्य कर रही है। पारिभाषिक शब्दावली, हिंदी भाषा-शैली और व्याकरण के आदर्शीकरण, विश्वविद्यालयों के हिंदी पाठ्यक्रम में समानता आदि के संबंध में भारतीय हिंदी परिषद् ने कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। पुनर्निर्मित हिंदुस्तानी एकेडेमी ने भी श्री राय राजेश्वरबली का अदम्य उत्साह पाकर नवीन आयोजनाओं को हाथ में लिया है। एकेडेमी ने लेखकों के लिए अनेक पुरस्कारों की व्यवस्था की है। इससे निर्माण-कार्य में नवीन जाग्रति और स्फूर्ति अवश्य ही आ सकेगी। इन संस्थाओं के अतिरिक्त मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति (इंदौर), प्रसाद-परिषद् (काशी), साहित्य-सदन (अबोहर) दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा (मद्रास), हिंदी प्रचारिणी सभा (दिल्ली), सुहृद् संघ (मुज़फ्फ़रपुर), विदर्भ प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन (अकोला), हिंदी विद्यापीठ (बंबई), हिंदी साहित्य परिषद् (मथुरा), हिंदी साहित्य मंडल (रायपुर) और श्री वीरेंद्र केशव साहित्य-परिषद् (टीकमगढ़) विशेष कार्यशील हैं। हमें आशा है कि इन संस्थाओं से हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति में विशेष सहायता मिलेगी।

हमारे सामने एक विशेष महत्वपूर्ण कार्य प्राचीन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों को एकत्रित कर उन्हें सुसंपादित रूप से प्रकाशित करने का है। इस सम्बन्ध में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर पं० अमरनाथ झा के प्रयत्न से राजा पन्नालाल (हैदराबाद) ने १२००) की वार्षिक भेंट इलाहाबाद यूनिवर्सिटी को प्रदान की है। फलस्वरूप श्री उमाशंकर शुक्ल एम० ए० ने नंददास के ग्रन्थों का सम्पादन अत्यंत योग्यता से किया है। उसे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने प्रकाशित भी कर दिया है। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ श्री महावीरप्रसाद जी पोद्दार की उदारता से 'सूरसागर' का एक प्रामाणिक संस्करण भी प्रकाशित होने जा रहा है। इसके प्रधान सम्पादक श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी होंगे और इसका कार्यालय मथुरा में होगा। हम आशा करते हैं कि हिन्दी साहित्य की छिपी हुई रत्न-राशि को प्रकाश में लाने के लिए अन्य दानवीर पीछे नहीं रहेंगे।

साहित्य सम्मेलन संग्रहालय प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और म्युनिसिपल म्यूज़ियम, प्रयाग में हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। इन ग्रन्थों के संग्रह में क्रमशः पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, श्री राय कृष्णदास और श्री ब्रजमोहन व्यास का परिश्रम सराहनीय है। इनके परिश्रम का सदुपयोग हिन्दी हितैषियों को करना चाहिए। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रकाशन की एक प्रशंसनीय योजना हाथ में ली है। हिन्दी विभाग में खोज करने वाले अध्यापक या विद्यार्थियों के जो निबन्ध विश्वविद्यालय द्वारा मान्य समझे जाते हैं, और जिन पर 'डाक्टरेट' की डिग्री प्रदान की जाती है, उनके हिन्दी रूपांतर को प्रकाशित करने का विचार प्रथम बार डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कार्य रूप में परिणत किया है। उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से इस प्रकार के तीन निबन्ध प्रकाशित किए हैं : तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त), आधुनिक हिन्दी साहित्य—१८५०-१९०० : (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास १९००-१९२५ : (डा० श्रीकृष्णलाल)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री उमाशंकर शुक्ल द्वारा संपादित सेनापति कृत 'कवित्त-रत्नाकर' भी प्रकाशित किया गया है। यदि प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की इस प्रकाशन-योजना की भाँति अन्य विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों से भी इसी प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था हो तो हिन्दी साहित्य के खोज सम्बन्धी कार्य को बहुत प्रगति मिलेगी।

मैं एक विषय पर और विचार करना चाहता हूं। श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी का छोटे-छोटे सजीव साहित्यिक जनपदों के निर्माण का प्रश्न महत्व का है। इसमें कोई

सन्देह नहीं कि विस्तृत क्षेत्र रखने वाली संस्थाएँ साहित्य के छोटे-छोटे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने का अवकाश कम पाती हैं और प्रांतीय कठिनाइयों को प्रांत के दृष्टिकोण से समझने में प्रायः विफल होती हैं। इसलिए प्रांत-विशेष के साहित्य संबंधी कार्यों को छोटे-छोटे मंडलों में बाँट कर हमें अपने साहित्य की अधिक से अधिक श्री और शोभा एकत्र कर लेनी चाहिए। ग्रामगीत की प्रचुर राशि और प्रांतीय बोलियों की साहित्यिक निधि हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी को अधिक समृद्धशाली करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। विविधता में ही सौंदर्य है। जिस प्रकार उषा के बहुरंगी बादलों से ही प्रभात अधिक सौंदर्यशाली ज्ञात होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रांतों की बोलियों के परिमार्जन और साहित्य-सृजन से हिंदी का रूप और महत्व अधिक शोभा-सम्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू के प्रश्न पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा और हम हिंदी को अधिक शक्तिशाली बना सकेंगे। मैं भाषा के व्यक्तित्व और संस्कारों में विश्वास रखता हूँ। अन्य भाषाओं से हिंदी को समृद्धिशाली वहाँ तक बनाया जाय जहाँ तक कि उसका व्यक्तित्व नष्ट न हो। खिचड़ी भाषा को मैं साहित्य की भाषा नहीं समझता। रेडियो की भाषा ने हमारी भाषा को आगे नहीं बढ़ाया। साहित्यिक विषयों पर कुछ बातचीत हो जाना ही साहित्य को उन्नत बनाने की साधना नहीं है। यदि लखनऊ के बदले इलाहाबाद में रेडियो-भवन होता तो संभवतः जनता की मनोवृत्ति के प्रभाव से तथा साहित्य सम्मेलन के बल से हिंदी भाषा और साहित्य की गति-विधि में विशेष स्फूर्ति आती। सच तो यह है कि रेडियो का कोई भी स्टेशन हिंदी के केंद्र में ही नहीं है।

हिंदी साहित्य की उन्नति के लिए मैं अन्य साधनों में मासिक पत्रों की अपेक्षा साप्ताहिक पत्रों को उपयोगी समझता हूँ। साप्ताहिक पत्र जनता के हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं और मासिक पत्रों से अधिक शीघ्र नई-नई सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। साधारण समाचारों के अतिरिक्त उनमें साहित्यिक विषयों और साहित्य-निर्माण संबंधी आयोजनाओं का पूर्ण समावेश होना चाहिये। नये दृष्टिकोणों पर विचार करने के लिए एक सप्ताह का समय न कम है, न अधिक। यदि विशाल भारत, वीणा, विक्रम, सरस्वती, हंस, माधुरी, विश्ववाणी, साधना, दीदी और साहित्य संदेश के साप्ताहिक संस्करण निकल सकते तो साहित्य-निर्माण में अधिक सहायता मिलती। काग़ज की समस्या के हल हो जाने पर यह आयोजन सुगम हो सकेगा। हमें भविष्य को आशा की दृष्टि से देखना चाहिए। आजकल देशदूत, कर्मवीर, आज, जागृति, शुभचिंतक, बिजली और भारत अच्छे साप्ताहिक हैं, जो साहित्य-साधना में अधिक कर्मशील हैं। सारथी अच्छा पत्र था, दुर्भाग्य से उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया गया।

आपका अधिक समय लेने के लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मुझे अपना दृष्टिकोण आपके सामने रखना था, इसलिए प्रत्येक बात अधिक स्पष्ट रूप से रखने की चेष्टा की है। अंत में मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप साहित्य के क्षेत्र में दृष्टिकोण की संकीर्णता को स्थान न दें। राजनीति के चिंतापूर्ण आवेग में साहित्य की प्रेरणा शिथिल न हो, यही आपको ध्यान में रखना है। आप सच्चे अर्थ में प्रगतिशील होकर साहित्य का निर्माण करें। 'हिमकिरीटिनी' द्वारा 'भैरवी' का गुंजार हो। प्रांतीय भाषाओं का सहयोग प्राप्त कर आप हिन्दी की कलात्मकता से भारती के नवीन भाव-भवन का निर्माण कर सकें, यही हमारी कामना है।

भाषण—२

देवियो और सज्जनो,

साहित्य सम्मेलन का यह तैंतीसवाँ अधिवेशन राजस्थान की उस उर्वर भूमि में होने जा रहा है जहाँ के चारणों और महाकवियों ने हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास के सिंहद्वार पर अपनी ओजस्विनी वाणी से प्रशस्तियाँ गाई हैं। राष्ट्रीय जीवन के लिए जिन भावनाओं को जगाने की आवश्यकता है, उन भावनाओं को वीर रस के क्रोड़ में पोषित कर यहाँ के कवियों ने जैसे हमें संकेत किया है कि साहित्य के मेरुदंड में वीर रस का ही बल होना चाहिए। जातीय जीवन में काव्य के द्वारा ही जागरण हो सकता है, स्वतंत्रता की पुकार का आदि-स्थान कविता ही है, और इसीलिए सेनापति के साथ चारण को भी रण-स्थल पर मौजूद रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को मानकर यहाँ के चारणों ने रक्त-बिन्दुओं के अक्षरों में अपने राष्ट्र-गौरव का इतिहास लिखा है। राजस्थान की विश्ववंद्य आत्मा ने इस काव्य के दर्पण में ही अपना प्रतिबिंब देखा है। इसकी रसवती काव्य-धारा ने न जाने कितने रक्त-स्नात वीरों की क्रांति की प्यास शान्त की है। डिंगल साहित्य की इसी प्रेरणा ने हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहास को सुरक्षित रक्खा है। इसलिए आज हम इस अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्रीयता की जन्मभूमि राजस्थान में आना अपना सौभाग्य समझते हैं।

आज हम साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कहाँ हैं, इसका परिचय हम किस प्रकार दें? वर्तमान युग कष्टों की एक श्रृङ्खला है। यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया है तथापि हम एक साधारण मानव की सुविधाओं के अधिकारी भी नहीं हैं। वस्त्र के लिए हमने अपना व्यक्तित्व दे दिया है, अन्न के लिए हमने अपनी आत्मा बेच दी है। पिछले वर्ष बंगाल ने अपने न जाने कितने लाख लालों को इसी भूख की ज्वाला में जला दिया। जहाँ आत्मा के ऊपर भूखा शरीर बैठ गया है, जहाँ क्रय-विक्रय के काँटों पर रूप और शृंगार तुल गया है, वहाँ ऐसी परिस्थितियों में मानवता कराह रही है। दुर्भाग्य की बात है कि जनता में इसकी प्रतिक्रिया नहीं हुई। यदि जनता दासत्व की श्रृङ्खला में इतनी जकड़ी हुई है कि उसे अपने मानव जीवन का अभिमान नहीं है तो कम से कम कवियों और लेखकों में तो इसकी प्रतिक्रिया होती, वे तो जनता के कष्टों से सिहर उठते किंतु हमने देखा कि हमारे लेखक और कवि अपने देश की इन परिस्थितियों से

उदासीन बने रहे। उनके काल्पनिक संसार में इस कठोर सत्य का प्रवेश नहीं हो सका। आज हिन्दी में कितने उपन्यास हैं जो देश की इस भयानक परिस्थिति से प्रेरित होकर लिखे गए? कितने नाटक हैं जिनमें देश की इस अर्धमृत और अर्धनग्न जनता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई, कितने खंडकाव्य, महाकाव्य या मुक्तककाव्य हैं, जिनमें जनता का यह करुण आर्त्तनाद गूँज सका? ऐसी रचनाएँ हिंदी संसार की व्यापकता को देखते हुए नहीं के बराबर हुई हैं। इससे तो यही ज्ञात होता है कि हमारा वर्तमान साहित्य जनता का साहित्य नहीं है। उसकी पंक्तियों में जनता के प्राणों का स्पंदन नहीं है। वह न तो जनता से सहानुभूति रखता है और न जनता उसे अपना रही है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि हमारे साहित्य में बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित होनेवाली रचनाएँ लोकप्रिय नहीं हो सकीं। हमारे कवियों के कितने गीत हैं जो जनता की ज़बान पर चढ़ सके हैं? कितने नाटक हैं जो गाँव-गाँव खेले गए हैं, कितने उपन्यास हैं जिनकी कथा-शैली में जनता के कंठ का द्रवित स्वर है? स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द को छोड़कर कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं, जिसने तिल-तिलकर मरनेवाले होरी से भिन्न किसी दूसरे किसान को समझा हो, जिसने प्रेम और विग्रह की धूप-छाँह से बनी पति-परायणा धनिया का प्रतिरूप उपस्थित किया हो। अपने जीवन में घटित होनेवाली, जीवन के चारों ओर अविराम गति से बहने वाली घटनाओं के प्रति यह उपेक्षा कैसी? मुझे तो ज्ञात होता है कि अभी हमारे अधिकांश साहित्यकारों में जीवन के वस्तुवाद को कलात्मक रूप से आत्मसात् करने की क्षमता नहीं आई। हमने वास्तविक जीवन की रुक्षता में निहित सौन्दर्य नहीं पहिचाना। हम जीवन की भयानक सुन्दरता नहीं देख सके। विशिष्ट घटनाओं को उनके रूप में सजाने पर एक जीवनगत सत्य और सौन्दर्य दीख पड़ता है। जिस प्रकार ऊँट देखने में बड़ा बेडौल मालूम होता है। लंबी-लंबी टाँगें, टेढ़ी गर्दन, पीठ पर कूबड़, छोटी-सी पूँछ आदि। किन्तु जब यही ऊँट आपके प्रदेश की मरुभूमि में एक सीधी रेखा में क्रमबद्ध होकर अनेक ऊँटों के साथ चलता है और आप उसे प्रातःकाल या संध्याकाल के धुँधले-से हलके प्रकाश में देखते हैं तो आपको मालूम होता है जैसे क्षितिज पर जीवन की लंबी लहर बलखाती हुई, धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है। ऊँट के बेडौल आकार की विषमता, समता का रूप लेकर आपके नेत्रों को सौन्दर्य का निमन्त्रण देती है। इसी प्रकार जीवन की विषमताओं को एक क्रम में अथवा उनकी गतिशीलता में सजाकर हम जीवनगत सत्य का सौन्दर्य देख लेते हैं। यह हमारे अधिकांश कलाकारों द्वारा नहीं हो सका!

इन जीवनगत विषमताओं के चित्रण का—वास्तविक दारुण परिस्थितियों के

चित्रण का—पूर्ण समर्थक होते हुए भी मैं आजकल के अधिकांश प्रगतिशील लेखकों या कवियों से सहमत नहीं हो सका। उन्होंने हमें जीवन के वास्तविक और सच्चे चित्र देने की चेष्टा की है किंतु यह सत्य उन्होंने हमें तब दिया है जब उन्होंने साहित्य के समस्त सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। चिरन्तन साहित्य की कुछ मान्यताएँ हैं। साहित्य केवल आज की संपत्ति नहीं है, वह परंपरागत संपत्ति है, लोक-कल्याण, सुरुचि और लालित्य उसकी नैसर्गिक विशेषताएँ हैं। बिना सुरुचि और लालित्य के लिखा गया साहित्य किसी अख़बार का संवाद-संग्रह मात्र माना जा सकता है। अतः जब हम आगामी परंपरा के जीवन और कल्याण की भावना से ही साहित्य का निर्माण करते हैं तो हमें सुरुचि और मानव-मन को आकर्षित करनेवाले सौन्दर्य को ध्यान में तो रखना ही पड़ेगा।

प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं में इन दोनों ही का अभाव है। वे तो जैसे साहित्य के समस्त नियमों को नष्ट-भ्रष्ट करने में अपने उद्देश्य की पूर्ति देखते हैं। रूढ़ियाँ तोड़ना एक बात है और मान्यताएँ नष्ट करना बिल्कुल दूसरी बात। हमारे इन लेखकों ने इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रक्खा। एक सिरे से उन्होंने 'एटम बम' गिरा दिये हैं और उनके चारों ओर साहित्य की शोभा और श्री का संहार ही संहार दीख पड़ता है। मैं इन मित्रों से कहूँगा कि वे एक क्षण रुकें। साहित्य-सृजन एक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य है। वे सोचें और समझें कि वे क्या करने जा रहे हैं। पिछली शताब्दियों से आने वाले साहित्य में दर्जनों क्रांतियाँ हुईं किन्तु हमारे साहित्य की मान्यताएँ नष्ट नहीं हो सकीं। आज सोशलिज़्म के उधार लिए हुए विचारों के प्रदर्शन में वे साहित्य में केवल आग की लपट ही देखना चाहते हैं? उसकी सारी मान्यताओं में उच्छृंखलता का नग्न ताण्डव ही देखना चाहते हैं? मुझे भय है कि जिस तरह आज कम्यूनिस्ट दल कांग्रेस से अलग हो रहा है, उसी प्रकार ये प्रगति-शील लेखक कहीं हिन्दी साहित्य से निर्वासित न कर दिए जावें।

मेरा विचार तो यह है कि जनता के जागरण की वाणी लेकर हमारे कलाकार पूर्ण प्रगतिशील बनें किन्तु इस प्रगतिशीलता में साहित्यिक सुरुचि का ध्यान रहे। उनकी रचनाओं में भले ही रस-संचार और अलंकार-प्रियता न रहे किन्तु फिर भी साहित्य के स्वस्थ सौन्दर्य का ध्यान तो रहे। उनका साहित्य जनता से दूर न जाने पावे। साहित्य के लिए जनता से दूर जाने का अर्थ मृत्यु है।

प्रेरणाओं से सजीव संपर्क रखना ही साहित्य के लिए संजीविनी है। और फिर वह साहित्य ही क्या जो समाज के क्रोड़ में पोषित होकर समाज का निर्माण न करे?

ज़िस प्रकार बीज से फूल उत्पन्न होता है और फिर वही फूल बीज की सृष्टि करता है, उसी प्रकार समाज से साहित्य उत्पन्न होता है और फिर वही साहित्य समाज के निर्माण में सहायक होता है। समाज की प्रेरणाओं से रहित कलाकार अपनी कल्पना की रचनाएँ उसी प्रकार किया करता है जिस प्रकार कमरे के एक कोने में बैठी हुई एक मकड़ी जाला बुनती रहती है। उसे क्या ध्यान कि आज इस कमरे में बैठने के लिए कितने कवि या भले आदमी आए। उसे तो अपने जाले से काम, और जिस तरह मेरा नौकर उस जाले को एक दिन झाड़ू से साफ़ कर देगा, उसी तरह समय अपने वर्षों की झाड़ू से समाज के जीवन से रहित उन उलझी हुई कल्पनाओं को झाड़ कर साफ़ कर देगा। इसके पर्याय, जीवन के ओज से भरे हुए साहित्य की कांति प्रतिदिन उदय होने वाले सूर्य की भाँति कभी पुरानी या धूमिल नहीं होगी और तब ऐसा कलाकार या कवि जनता का प्रतिनिधि होगा। निराशा में वह आशा के गीत गाएगा और मरण में जीवन की आरती सजाएगा। उसकी वाणी में वायु की गतिशीलता और तरलता आएगी जिसके स्पर्श मात्र से मुरझाए हुए मन एक बार फिर से चैतन्य हो जाएँगे। वह भारती के मन्दिर में अपनी स्वरलहरी से ऐसे गीत गाएगा कि जड़ भी चेतन हो जाएँगे, पराजित भी विजयी बन सकेंगे। ऐसे ही स्वरों में राठौड़राज प्रिथीराज ने एक 'साखरा गीत' गाया था।

नर तेथ निमाणा निलजी नारी, अकबर गाहक बट अबट
चौहटे तिण जायर चीतोड़ों बेचे किम रजपूत बट

और इस गीत से राणा प्रताप महाराणा प्रताप बने। क्या आज हमारे देश की पराधीनता में ऐसे गीत नहीं गाए जा सकते? रूस में जो क्रांतियाँ हुईं, उनके पीछे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा। उपन्यासकारों ने ऐसे कथानकों की सृष्टि की जो देश के अन्तःकरण को झकझोर सकें। आज हिन्दी में भी वैसे उपन्यास क्यों नहीं लिखे जा सकते? प्रणय के प्रथम पाठ से ही उपन्यास का प्रणयन क्यों होता है? हमारे देश में तो रंगमंच निर्मित ही नहीं हो पाया किन्तु जो नाटक विद्यार्थियों या सभा-समितियों के द्वारा खेले जाते हैं, उनमें हमारी समस्याओं पर प्रकाश क्यों नहीं डाला जाता? ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनका अभाव आज हमारे साहित्य में खटक रहा है।

यह तो ललित साहित्य की बात हुई। उपयोगी साहित्य का भी प्रश्न हमारे सामने है। वैज्ञानिक विषयों पर हमारे साहित्य में बहुत कम काम हुआ है। प्रयाग की विज्ञान-परिषद् का प्रयत्न इस दिशा में श्लाघ्य रहा है किन्तु एक संस्था अपनी सीमित शक्तियों से कितना काम कर सकती है? जब हम हिन्दी को कालेजों और विश्वविद्यालयों

में शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव रखते हैं तो उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जानेवाले पाठ्य-ग्रंथों का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। हम अभी तक एम्० ए० और एम्० एस-सी० में पढ़ाये जाने योग्य पाठ्य-ग्रन्थों को तैयार नहीं कर सके हैं। कठिनाई वैज्ञानिक विषयों में विशिष्ट शब्दों (Technical Terms) के प्रयोग करने की है। निर्णय की बात यह है कि अंग्रेज़ी के ही विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हिंदी साहित्य में हो या संस्कृत धातुओं के आधार पर उन शब्दों का हिंदी में पर्याय बनाया जाय। यद्यपि पहले दृष्टिकोण के पक्ष में कुछ विद्वान् अवश्य हैं किंतु मेरे विचार से भाषा और साहित्य की एकरूपता के लिए उन विशिष्ट शब्दों के हिंदी-पर्याय आवश्यक हैं। यह बात दूसरी है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सुविधा के लिए अंग्रेज़ी विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी सुविधानुसार कर लें किंतु हमारे साहित्य की समृद्धि के लिए और हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए हमारे पास उच्चतम वैज्ञानिक शब्दावली का हिंदी कोष भी मौजूद रहना चाहिए। यदि हम यह कोष तैयार कर लें तो उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-ग्रंथ भी हम हिंदी में ही प्रस्तुत कर सकते हैं और विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं में हिंदी ही को माध्यम बना सकते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में प्रयाग की भारतीय हिंदी परिषद् ने इस दिशा में प्रयत्न किया है और वैज्ञानिक विषयों के पारिभाषिक शब्द-कोष तैयार करने की योजना को बहुत कुछ आगे बढ़ाया है। परिषद् का यह कार्य अगले वर्ष तक समाप्त हो जायगा और हिंदी को प्रतिष्ठित विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ पारिभाषिक शब्दकोष प्राप्त हो सकेगा जिससे पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में विशेष सुविधा होगी। प्रान्तीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रश्न पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने विचार-विनिमय किया है। इस समय तक उसने प्रत्येक विषय में हिंदी या उर्दू में निबंध का प्रश्नपत्र अनिवार्य कर दिया है। माध्यम की दिशा में इसे पहला क़दम समझना चाहिए। आशा है, इसी प्रकार अन्य विश्वविद्यालय भी इस दिशा में प्रगतिशील होंगे। हम उपयोगी साहित्य के लिए केवल पाठ्य पुस्तकें ही नहीं चाहते किंतु ऐसा गंभीर साहित्य भी चाहते हैं जिससे देश में विज्ञान के विषय पर हिंदी भाषा-भाषियों द्वारा खोज का कार्य भी सरलता से चलाया जा सके और आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति में हिन्दी के अनेक विद्वानों का सक्रिय सहयोग रह सके।

साहित्य की समस्याओं के साथ भाषा का प्रश्न भी जटिल रूप धारण कर रहा है। हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू के रूपों को लेकर देश में जो अलग-अलग दल बन गए हैं, उनसे आप अपरिचित नहीं हैं। विश्ववंद्य महात्मा गांधी ने हिंदी साहित्य

सम्मेलन से अपना संपर्क हटा लिया है, वह बड़ी क्लेशकर बात है किंतु संतोष केवल उनकी इस बात पर है कि वे सम्मेलन से बाहर रहकर भी सम्मेलन की और अधिक सहायता कर सकेंगे। हिंदी और हिंदुस्तानी का नाम लेकर जो दल अपने-अपने तर्क उपस्थित कर रहे हैं, उनमें एक बात तो समानरूप से वर्तमान है कि वे सभी देश की राष्ट्र-भाषा को अधिक से अधिक व्यापक और सुविधाजनक रूप देना चाहते हैं। मैं भी राष्ट्रभाषा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इससे सहमत हूँ किंतु किसी भी भाषा से द्वेष न रखते हुए मैं यह बात स्पष्ट रूप से घोषित करना चाहता हूँ कि राष्ट्रभाषा वही होनी चाहिए जिससे राष्ट्र के अन्तर्गत निवास करनेवाले विविध प्रांतीय भाषाओं के लोग भी अपनी भाषा-विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिंदी, बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उड़िया और सिन्धी तथा द्रविड़ भाषाओं में तामिल, तेलगू, कन्नड और मलयालम प्रमुख हैं। हमें राष्ट्र-भाषा के निर्माण में इन सभी भाषाओं का ध्यान रखना होगा। भारतीय भाषाएँ तो संस्कृत की परंपरा में हैं ही, द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव है। अतः हिंदी को राष्ट्र-भाषा के रूप में संस्कृत के ऐसे शब्द-समूहों से अपना संबंध बनाए रखना होगा जो इन विविध भाषाओं में समझे जाते हैं और व्यवहार में लाये जाते हैं। अतः राष्ट्रभाषा के मूलाधार में संस्कृत से निकली हुई भाषा-विषयक परम्परा ही होनी चाहिए। रही बात अरबी और फारसी के शब्दों की जिनका प्रवेश कराना आजकल राष्ट्रभाषा में अनिवार्य समझा जाता है। अरबी, फ़ारसी या उर्दू (जो हिंदी ही की एक शैली मात्र है) किसी प्रकार भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखी जा सकतीं। मुसलमानों के संपर्क से ही इस देश में अरबी और फ़ारसी के शब्दों को लेकर हिंदी के क्रोड़ में उर्दू का जन्म हुआ और फल-स्वरूप हमारी भाषा में भी अरबी और फ़ारसी के सैकड़ों शब्दों का प्रवेश हुआ। ये शब्द आज भी हमारी भाषा में मिलकर हमारे हो गए हैं। इन्हें भाषा से अलग करना भाषा की हानि ही करना है। किंतु जब हिंदुस्तानी के रूप में लगभग उर्दू ही राष्ट्र-भाषा के लिए प्रस्तुत की जाती है तो विषय चिन्त्य हो जाता है। उर्दू, भाषा के रूप में कितनी व्यापक हो पाई है, इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते। व्यावहारिकता में केवल उत्तरी भारत में वह विशुद्ध रूप से बोली और समझी जाती है, वह भी नगरों में, गाँवों में नहीं। नगरों में भी अशिक्षित जनता के द्वारा—प्रमुखतः मुसलमानों के द्वारा। नगर के अशिक्षित मुसलमान भी स्थान-विशेष की बोली बोलते हैं। गाँवों में तो हिन्दुओं और मुसलमानों में भाषा-विषयक कोई भेद ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उत्तरी भारत के कुछ नगरों के सांप्रदायिक दृष्टिकोण रखने-

वाले कुछ व्यक्तियों के आग्रह से महाद्वीप के समान इस विशाल देश की राष्ट्रभाषा प्रमुखतः अरबी और फ़ारसी शब्दों से लदी हो जो अधिकांश राष्ट्र के लिए दुर्बोध हो, न्याय के विपरीत बात होगी। यह बात दूसरी है कि राजनीतिक आवश्यकताओं ने उर्दू स्वरूपिणी हिन्दुस्तानी को बल दे दिया हो और देवनागरी लिपि के साथ ही साथ फ़ारसी लिपि का सीखना भी अनिवार्य बना दिया हो, किंतु देश की भाषा-विषयक परिस्थिति इस राजनीतिक आवश्यकता से मेल नहीं खाती। हाँ, हिन्दी को अधिक से अधिक सरल, सुबोध और स्वाभाविक बनाने के लिए केवल संस्कृत के तत्सम शब्द ही काम नहीं दे सकेंगे, हमें तद्भव, देशज और सरल अरबी, फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी शब्दों को भी स्वीकार करना होगा। विदेशी शब्दों को हम उसी स्थिति में स्वीकार करेंगे जब वे जनता के लिए सुबोध और सरल एवं भाषा के लिए अभिव्यंजनात्मक शक्ति के पूरक सिद्ध होंगे। अपरिचित, दुरूह, और बेमेल शब्दों को राष्ट्रभाषा में स्थान देना उसकी सुबोधता और प्रांतीय भाषाओं की स्वीकृति में बाधक सिद्ध होगी। मेरा प्रस्ताव तो यह है कि भारत में बोली जाने वाली प्रत्येक प्रांतीय भाषा अपने व्यवहार में आने वाले अरबी, फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्दों के अलग-अलग कोष तैयार करे। उन सब कोषों का मिलान करने से ज्ञात हो जाएगा कि कितने विदेशी शब्द समानरूप से देश की सभी भाषाओं में समझे जाते हैं। वे सब विदेशी शब्द तो राष्ट्रभाषा हिंदी में रहेंगे ही। साथ ही साथ ऐसे शब्द जो किसी भाषा में विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं, विचार-विनिमय के बाद स्वीकृत किए जावेंगे। इस शैली से राष्ट्रभाषा का रूप सभी के लिए सुलभ और न्याय-संगत होगा। यों मैं भाषा के स्वाभाविक विकास में विश्वास रखता हूँ किन्तु जब राजनीतिक और अन्य कारणों से कोई भाषा हम पर लादी जा सकती है, तो हम राष्ट्रभाषा के निर्माण में भी तर्क और युक्ति से काम क्यों नहीं ले सकते? जहाँ तक लिपि से संबंध है, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि हिंदी या हिंदुस्तानी की एक ही लिपि होनी चाहिए—और वह लिपि देवनागरी है जो संसार की सब से शुद्ध और सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। यों अन्य लिपियों का सीखना बुरा नहीं है किन्तु यह वैकल्पिक हो, अनिवार्य न हो।

आल इंडिया रेडियो हिन्दुस्तानी के नाम से जिस उर्दू का प्रचार करना चाहता है, वह भाषा न तो हमारी संस्कृति की है, न हमारे संस्कारों की। आल इंडिया रेडियो अपनी नीति में दृढ़ और अटल है। साहित्य सम्मेलन ने अपने जयपुर अधिवेशन में इस भाषा-नीति का घोर विरोध किया और उसे सक्रिय आन्दोलन का रूप दिया किन्तु रेडियो-विभाग ने इसकी पूर्ण उपेक्षा की। हिन्दी के लेखकों और कवियों ने उसका पूर्ण

बहिष्कार किया किन्तु रेडियो-विभाग ने इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं की। यदि की होती तो आज रेडियो की भाषा का रूप ही दूसरा होता। अपनी ख़ालिस उर्दू के बीच में 'देश', 'समाज,' 'पूरब' और 'पच्छिम' जैसे दो चार शब्दों को स्थान देकर वे अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी कहते हुए लोगों को भुलावे में नहीं डाल सकते। राष्ट्रभाषा के संबंध में मैं अपना मत स्पष्ट कर ही चुका हूँ। ऐसी ही राष्ट्रभाषा में रेडियो से संवाद वितरित हों। रेडियो ने सम्मेलन के आन्दोलन को जिस उपेक्षा-भाव से देखा है, वह हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए असह्य है। मालूम होता है कि इस उपेक्षा की जड़ बहुत गहरी है, और इस जड़ का पोषण भी किसी अदृश्य स्रोत से हो रहा है। हमें अपने आन्दोलन को अधिक दूर तक पहुँचाना होगा और तब हमारी समस्या के हल की सूरत नज़र आएगी।

यह एक आश्चर्य की बात है कि जहाँ भाषा के निर्माण के लिए लोग प्रयत्नशील हैं, वहाँ भाषा के सुधार के लिए लोग प्रयत्नशील नहीं हैं। लेखकों, कवियों और पत्रकारों द्वारा भाषा की सुचारुता पर जो आघात हो रहे हैं, उनकी ओर हमने ध्यान ही नहीं दिया है। इस संबंध में श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' पुस्तक लिखकर हिन्दी लेखकों और विद्यार्थियों का विशेष उपकार किया है। मैं तो चाहता हूँ कि उस प्रकार की पुस्तकें अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित हों और वे अनिवार्य रूप से हिन्दी भाषा-भाषियों के हाथ में रक्खी जावें। इस सुधार को एक आन्दोलन का रूप देना उचित होगा। मैं तो आज देखता हूँ कि भाषा के बोलने के संबंध में अधिक से अधिक लापरवाही बरती जाती है। मेरे विश्वविद्यालय ही में किन्हीं दो विद्यार्थियों की बातचीत सुन लीजिए। उनके सारे वार्तालाप में संभवतः एक भी वाक्य ऐसा न होगा जिसे आप अच्छी हिन्दी कह सकें। उदाहरण के लिए मेरे एक विद्यार्थी ने एक दिन मुझसे कहा—डाक्टर साहब, आप उस मीटिंग में प्रेज़ेंट नहीं थे। बड़ा इंटरेस्टिंग डिसकशन हुआ। मैं स्पीकर के प्वाइंट अव् व्यू से एग्री नहीं कर सका और मैंने ऐसी फ़ोर्सफ़ुल स्पीच डेलीवर की कि आडिएन्स वाज मूव्हड कम्प्लीटली एंड दि हाउस वाज़ इन माइ फ़ेवर। मैंने उसे उसी समय रोक कर कहा कि मैं नहीं समझा। ज़रा हिन्दी में कहिए। वह लज्जित हुआ और 'एक्सक्यूज़ मी' कह कर चला गया। उसने 'क्षमा कीजिए' नहीं कहा। यह हिन्दी है जो आजकल हमारे विद्यार्थी बोलते हैं। इन्हें अपनी भाषा के लिए कोई गौरव नहीं है, जैसा मुँह में आता है, वैसा ही बोलते चले जाते हैं। शायद उन्होंने एक क्षण कभी यह नहीं सोचा कि भाषा के प्रति भी उनका कोई कर्त्तव्य है। पहले किसी ज़माने में अपनी भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों का मिश्रण शिक्षित

और सुसंस्कृत कहलाने का माप-दंड समझा जाता था किन्तु अब वह बात नहीं रही। अब तो पश्चिमी वातावरण ने अंग्रेज़ी की बाहें बहुत लम्बी कर दी हैं। उस दिन बाज़ार में खड़ा एक ग्रामीण कह रहा था—"ई ससुर कंटरौल का आंटा तो सिमन्ट अस दिखात बा।" यह बात छोड़िए, किन्तु यदि अंग्रेज़ी की संज्ञाओं, उसके विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के मिश्रण की यही प्रवृत्ति भाषा में रही तो आज से सौ वर्ष बाद हिन्दी से संघर्ष लेने के लिए आज की हिन्दुस्तानी की भाँति कोई इंगिलिस्तानी भाषा खड़ी होगी और वही राष्ट्रभाषा होने के लिए हिन्दी से युद्ध करेगी। भाषा-सुधार के संबंध में हमारा जो गम्भीर उत्तरदायित्व है, उसे अभी हम आँख खोल कर नहीं देख सकते, यह हमारा नैतिक पतन है।

अपने साहित्य-निर्माण के सम्बन्ध में मुझे कहना तो बहुत है लेकिन समय के अभाव में मैं कुछ बातें संक्षेप में ही कहूँगा। साहित्य की समुन्नति के लिए हमें एक सप्त वर्षीय योजना बनानी चाहिए। यह योजना या तो साहित्य सम्मेलन की ओर से हो, या नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से। जो संस्थाएँ इस कार्य में योग दे सकती हैं, या देना चाहती हैं वे अपने को योजना चलाने वाली संस्था से सम्बद्ध करा लें। इस योजना में हमें साहित्य को समृद्ध और अग्रशील बनाने के लिए समस्त साधन जुटाने चाहिए। इस कार्य की योजना में कम से कम पाँच लाख की निधि एकत्र की जाए और प्रत्येक वर्ष में उठाये जाने वाले विषयों का वर्गीकरण कर दिया जाए। फिर उस विषय के विशेषज्ञों की समितियों का संगठन हो और विशेषज्ञों को उत्साहवर्धक पारिश्रमिक देकर एक निश्चित अवधि के भीतर आयोजित कार्य की संपूर्ण सामग्री संकलित कर ली जाए। तत्पश्चात् उसका एक विशिष्ट समिति द्वारा संपादन और प्रकाशन हो और इस तरह उस वर्ष का कार्यक्रम समाप्त कर दिया जाए। यदि पाँच वर्षों में यह कार्य समाप्त न हो तो अवधि बढ़ाई जा सकती है। अथवा इस योजना को दो भागों में विभाजित कर दो या तीन संस्थाएँ एक साथ ही अपना कार्य चला सकती हैं। ये संस्थाएँ चाहे जिस तरह विषय का वर्गीकरण करें किन्तु हमारे साहित्य की जो प्रमुख आवश्यकताएँ हैं उनकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ :

१—हमारे साहित्य में प्राचीन कवियों और लेखकों की रचनाओं के सुसंपादित संस्करणों की बहुत कमी है। जब तक ये संस्करण प्रामाणिक रूप से संपादित नहीं किए जावेंगे तब तक हम अपने प्रसिद्ध कवियों या लेखकों की रचनाओं के मूल्यांकन में कहाँ तक आश्वस्त हो सकते हैं? हमारे देश भर में प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ बिखरे पड़े हैं। उन्हें एकत्रित करने के लिए कोई भी अखिल भारतवर्षीय प्रयत्न नहीं हुआ।

नागरी प्रचारिणी सभा ने इस क्षेत्र में अवश्य प्रशंसात्मक कार्य किया किंतु उसका क्षेत्र सीमित रहा और धन-बल न होने के कारण कार्यकर्त्ताओं द्वारा संतोषजनक रूप से कार्य चल नहीं सका। प्रसन्नता की बात है कि हिंदी विद्यापीठ उदयपुर ने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का प्रथम भाग प्रकाशित किया है। श्री जनार्दन राय, प्रधान मंत्री, हिंदी विद्यापीठ, उदयपुर ने इस कार्य का संचालन बड़ी योग्यता से किया है। राजस्थान कवियों और चारणों की जन्मभूमि होने के कारण हस्तलिखित ग्रंथों का भांडार सा है। यहाँ अनेक ग्रंथों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलेंगी। संपादन करने वाले विद्वान् जानते हैं कि हस्तलिखित प्रतियों के वंश और कुल होते हैं जिनकी शाखाएँ चलती हैं। कभी कभी अति आधुनिक काल का हस्तलिखित ग्रंथ विश्वस्त और प्रामाणिक कुल का होने के कारण अधिक मान्य होता है और कभी-कभी प्राचीन काल का हस्तलिखित ग्रंथ किसी दूर की शाखा का होने के कारण विश्वस्त नहीं माना जाता। इसलिए एक ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियों को योंही नहीं छोड़ देना चाहिए किन्तु उनके पाठान्तर के दृष्टिकोण से उनके कुलों का निर्णय करना चाहिए और अत्यन्त विश्वस्त कुल का पाठ स्वीकार होना चाहिए। इस कार्य के लिए विद्यापीठ को संपादन-कला में दक्ष अनेक विद्वानों को निमंत्रित करना चाहिए। मुझे उस दिन अत्यन्त प्रसन्नता होगी जब विद्यापीठ सारे देश में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज कर प्राचीन कवियों के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। विद्यापीठ के इस मंगल-कार्य में देश की सभी संस्थाओं को सहयोग देना चाहिए।

२—दूसरी आवश्यकता यह है कि हमें देश के समस्त प्रांतीय साहित्य से अपना संपर्क स्थापित करना चाहिए। यह संपर्क दो प्रकार से स्थापित हो सकता है। एक तो इस तरह कि हम अपने विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इन प्रांतीय भाषाओं को वैकल्पिक विषय बनावें (जैसा सम्मेलन के हिंदी-विश्वविद्यालय के 'रत्न' का पाठ्यक्रम है।) और अपनी आगे आने वाली परंपरा के हृदय में अन्य प्रांतीय साहित्यों के प्रति सहानुभूति का बीजारोपण करें और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि हम प्रत्येक प्रांतीय साहित्य के उत्कृष्ट ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद करना प्रारंभ कर दें। इससे हम हिन्दी का भाव-क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत और व्यापक बनायेंगे उतना ही अधिक उसे अन्य प्रांतीय भाषाओं की गति-विधि के अनुकूल भी बना सकेंगे। यदि इसके लिए हम प्रांतीय भाषाओं के उत्कृष्ट कलाकारों की एक समिति का संगठन करें तो यह एक अभूतपूर्व व्यवस्था होगी।

३—तीसरी आवश्यकता वैज्ञानिक साहित्य के प्रणयन की है। इसका उल्लेख

मैं ऊपर कर चुका हूँ। इस साहित्य के द्वारा हम कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से ऊँची से ऊँची शिक्षा दे सकते हैं और राष्ट्र के सभी प्रकार के उपयोगी ज्ञान को अपने अध्ययन की परिधि में ला सकते हैं।

४—चौथी आवश्यकता अपने समालोचना-शास्त्र को व्यवस्थित करने की है। आज जिन दशाओं में और जिन प्रभावों में साहित्य सृजन हो रहा है उनका मूल्यांकन संस्कृत के प्राचीन समालोचना-शास्त्र से नहीं किया जा सकता। साथ ही हमारे भारतीय जीवन के क्रोड में लिखा हुआ और हमारे संस्कारों से संपन्न साहित्य केवल पश्चिमी भाषाओं के प्रभावों के कारण ही, एक मात्र पश्चिम के मापदंड से नहीं मापा जा सकता। इसलिए प्राचीन और आधुनिक समालोचना-शास्त्र के समन्वय से हमें अपने साहित्य के लिए एक नवीन समालोचना-शास्त्र का निर्माण करना चाहिए जिससे हम अपनी राजनीति, समाज और साहित्य की परिस्थितियों में लिखी हुई रचनाओं को पश्चिमी विचार-धारा के प्रभावों की दृष्टि से भी उचित ढंग से समझ सकें। यह कार्य किसी महत्वपूर्ण संस्था के द्वारा ही होना चाहिए जो प्राचीन और आधुनिक साहित्यों के विद्वानों की एक समिति की आयोजना करे और साहित्य पर प्रभावों का विश्लेषण करते हुए अपने साहित्यिक आदर्शों को स्थिर कर सके।

५—पाँचवीं आवश्यकता हमारे ग्राम-गीतों के संकलन की है। यद्यपि यह योजना बहुत वर्षों से चल रही है किन्तु इस कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाने का प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ। हमारा देश कृषि-प्रधान होने के कारण ग्रामों से परिपूर्ण है। उन्हीं की उन्नति और विकास पर हमारे राष्ट्र का विकास अवलंबित है। ग्रामों की उन्नति उनकी भाषा और संस्कृति को ठीक ढंग से समझने और उनकी व्यवस्था के संबंध में सक्रिय होने में है। हमारे ग्राम ही हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र हैं। उनके पास हमारे आदर्शों, व्यवहारों और मनोविज्ञान का ऐसा कोष है जिसकी अवहेलना कर हम अपना व्यक्तित्व खो देंगे। जीवन के सरल और गहरे मनोविज्ञान की पवित्र गंगा हमारे ग्रामगीतों में तरंगित हो रही है। वह पश्चिमी शिक्षा के वस्तुवाद की ऊष्मा से प्रतिदिन सूख रही है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम युग-युग से चले आने वाले उस सांस्कृतिक इतिहास की रक्षा करें। ग्राम-गीतों की अत्यन्त हृदय-ग्राही अनुभूतियाँ हिंदी काव्य के लिए प्रेरणाएँ प्रदान कर सकती हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस सम्बन्ध में कदम उठाया था। उनके बाद इस क्षेत्र में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। प्रांतीय सम्मेलनों में ग्रामगीत, लोकोक्तियाँ, कहावतें आदि एकत्रित करने के प्रस्ताव तो अवश्य स्वीकृत होते हैं किंतु उनके अनुसार कार्य नहीं किया जाता। ग्रामों

के ऐसे सैकड़ों तद्भव शब्द हैं जो राष्ट्रभाषा हिन्दी में स्वीकार किए जा सकते हैं और जिनसे हमारी भाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति में वृद्धि हो सकती है किंतु इस महान् भाषा और साहित्य-संपत्ति पर अभी तक हमारा ध्यान गया ही नहीं। इस सम्बन्ध में मैं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से सहमत होते हुए भी जनपद साहित्य को प्रश्रय देने का समर्थन करता हूँ। यह जनपद साहित्य हमारी राष्ट्रभाषा के लिए अपरिमित बल का स्रोत होगा क्योंकि उसका सम्बन्ध देश के एक विशाल जन-समुदाय से होगा। ग्रामगीतों, कहावतों और लोकोक्तियों का संकलन ऐसे साहित्य के निर्माण का पहला कार्यक्रम होना चाहिए।

६—हमारी छठी आवश्यकता भाषा और लिपि-सुधार की है। भाषा की सरलता, सुबोधता और भाव-व्यंजक शक्ति को हमें अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाना है। इसी प्रकार लिपि में हमें ऐसे संशोधन मान लेना चाहिए जो अक्षर-विज्ञान के सिद्धान्तों के विरोध में न होते हुए आधुनिक मुद्रण-कला के गुणों को अपना सकें। इस सम्बन्ध में साहित्य सम्मेलन ने अवश्य कुछ कार्य किया है किंतु वह अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सका। उस कार्य को गति देने की बड़ी आवश्यकता है। इसके साथ ही 'टाइप राइटर' के अक्षरक्रम और अक्षर-सौंदर्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके बिना हमारी पांडुलिपियों की बड़ी दुर्दशा हो रही है।

७—सातवीं आवश्यकता अपने प्रकाशन कार्य को संयोजित और नियंत्रित करना है। आजकल हमारा साहित्य अपनी आवश्यकताओं को न देखते हुए मनमाने ढंग पर प्रकाशित हो रहा है। कहानियों की बाढ़ ने तो हमें आक्रांत कर दिया है। केवल कहानी के ही अनेक मासिक पत्र हिन्दी में निकल रहे हैं। यदि इन मासिक पत्रों की कहानियाँ उच्च कोटि की होतीं तो हमें संतोष हो सकता है, किन्तु ये कहानियाँ वासना के चित्रों को अत्यन्त नग्न रूप से उपस्थित करती हैं जिनसे हमारी रुचि विकृत हो सकती है। हमारे साहित्य को ऐसी कहानियों की आवश्यकता नहीं है। देश के इस नव जागरण में हमें साहित्य के अन्य अंगों के विकास की आवश्यकता है। हम उनके प्रकाशन की ओर ध्यान ही नहीं दे रहे हैं। हमारे साहित्यकार भी आर्थिक दुर्दशाओं में पड़कर जनता के मनोरञ्जन के लिए उन्हींके मनोविज्ञान के अनुरूप साहित्य लिखते चले जा रहे हैं। उन्हें रुककर अपने उत्तरदायित्व की ओर देखना चाहिए। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा संस्थापित 'साहित्यकार संसद' से हमें ऐसी आशा हो रही है कि वह हमारे लेखकों की आर्थिक दशा सुधारते हुए उनकी कृतियों के प्रकाशन का मार्ग-निर्देश भी करेगा।

इनके अतिरिक्त हमारी अनेक आवश्यकताएँ हैं। हिन्दी के केन्द्र में रेडियो स्टेशन की स्थापना, कवि-सम्मेलन का नियंत्रण और उसका उपयोग, हिन्दी में खोज कार्य की गतिशीलता और अपने साहित्यकारों के अभिनन्दन आदि अनेक कार्य हैं जिन्हें हम संगठित रूप से चला सकते हैं। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि हम अपने रंगमंच का विकास भी कर सकें। हमें एक नाट्य-संघ की स्थापना करना चाहिए जिसमें हम रंगमंच की स्वाभाविकता, व्यावहारिकता और सौन्दर्य-सृष्टि के आदर्शों पर विचार करें। वेश-विन्यास की सांस्कृतिक और सामाजिक रूपरेखा, यवनिकाओं की उपयुक्तता, संगीत की उपादेयता आदि पर हम विशिष्ट विद्वानों के भाषण और विचार-विनिमय की आयोजना करें। साथ ही प्रतिष्ठित नाटककारों के नाटकों के अभिनय भी प्रस्तुत करें। नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग विश्वविद्यालय ड्रामेटिक एसोसियेशन के द्वारा श्री जयशंकरप्रसाद के चन्द्रगुप्त का सफलतापूर्वक अभिनय हमारे गौरव की बात है। हम चाहते हैं कि साहित्य-सम्मेलम के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन पर हमारे किसी प्रतिष्ठित नाटककार के नाटक का एक सुन्दर अभिनय हो जाया करे। अभी तो हमें श्री जयशंकरप्रसाद के सभी नाटकों को रंगमंच पर लाने की चेष्टा करनी चाहिए।

हमें यह जानकर प्रसन्नता है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के सुप्रसिद्ध संरक्षक ओरछेन्द्र श्रीमान् महाराजा श्री वीरसिंह जू देव ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक विशाल ग्रंथ के निर्माण का शुभ संकल्प और आयोजन किया है। इसके संयोजक प्रसिद्ध आलोचक श्री लोकमाथ द्विवेदी सिलहकारी 'साहित्याचार्य' हैं। आशा है, श्रीमान् ओरछेन्द्र इसी प्रकार अन्य कवियों के ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना हाथ में लेंगे। अभी हाल में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री यशपाल के प्रयत्नों से श्री नाथूराम प्रेमी को अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने की योजना हमारे सुख और सन्तोष का विषय है।

साहित्य के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि आचार्य श्यामसुन्दरदास, डा० पीतांबरदत्त बडथ्वाल, श्री रायराजेश्वर बली और श्री शालग्राम वर्मा जैसे साहित्य-स्रष्टा और हितचिंतक उसके बीच में नहीं रहे। इन्होंने अपने जीवन में साहित्य की अनेक प्रकार से सेवाएँ कीं। हम उनकी आत्मा के लिए ईश्वर से शांति की कामना करते हैं। हमें संतोष है कि यह वर्ष महाकवि मैथिलीशरण गुप्त की स्वर्ण-जयंती का वर्ष है। हम अपने देश के इस महाकवि के चरणों में अपनी श्रद्धा की पुष्पांजलि समर्पित करते हुए उसके दीर्घ जीवन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

मैंने आपका अधिक समय लिया। एक वर्ष बाद ही आपने मेरी शक्ति और सेवाओं में विश्वास रख कर मुझे फिर साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर दिया, इसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

भाषण—३

हिन्दी के सम्मान्य कवियो, देवियो और सज्जनो !

चारणों की इस पुण्य भूमि में जहाँ भगवती सरस्वती की वीणा दुर्गा की कृपाण की गति के साथ ध्वनित हुई है, जहाँ कवियों ने अपनी शक्तिमयी लेखनी से युद्ध के इतिहास लिखे हैं और जहाँ के कवियों ने अपनी प्रतिभा से न जाने कितने राजवंशों को अमर कर दिया है, वहाँ आज अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन की आयोजना अपना विशेष महत्व और उत्तरदायित्व रखती है। वीर रस के साथ ही जहाँ मरुभूमि की मंदाकिनी मीरा अपनी अमृतमयी वाणी से न जाने कितने नीरस हृदयों में गिरधरगोपाल के मोर-मुकुट की छवि आँक चुकी है, उसकी पवित्र परम्परा में कवि-सम्मेलन की यह वाणी कितनी अधिक संयत और पवित्र होनी चाहिए, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। अतः राजस्थान के प्रांगण में होने वाले इस कवि-सम्मेलन के गम्भीर उत्तरदायित्व का प्रश्न जितना मेरे सामने है उतना ही उसके गम्भीर और पावन संचालन का प्रश्न आपके सामने है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कविता की जन्म-भूमि में कविता का अपमान न होगा और आदि से लेकर अब तक काव्य में प्राण-संचार करने वाले महाकवियों की यशोगाथा की शृंखला में कवि-सम्मेलन की यह कड़ी उसे निर्बल न बनाकर अधिक सशक्त और दृढ़ बनायेगी। आपके द्वारा दिये गये इस सम्मान को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करते हुए मैं अपने देश के विभिन्न प्रान्तों से आये हुए सभी कवियों का स्वागत करता हूँ और उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन जैसी महान् संस्था के तत्वावधान में आयोजित इस कवि-सम्मेलन के अनुरूप ही अपना काव्य-पाठ करने की कृपा करें और राजस्थान में पनपे हुए हिन्दी के इतिहास को और भी अधिक गौरवशाली बनावें।

इस कवि-सम्मेलन के अवसर पर जब कि हमारी भाषा के अनेक प्रतिष्ठित और ख्याति प्राप्त कवि विराजमान हैं, तब उनके काव्य-श्रवण की उत्कट लालसा के मध्य में मैं आपके सामने कोई लम्बा चौड़ा भाषण नहीं देना चाहता। कवि-सम्मेलन के सम्बन्ध में अनेक वर्षों के जो अनुभव मुझे प्राप्त हुए हैं, उनकी ओर मैं संकेत मात्र कर अपने कवियों को काव्य-पाठ का निमन्त्रण दे दूँगा।

साहित्य के इस विकासोन्मुख हिन्दी काव्य की जितनी अधिक पुस्तकें इधर प्रकाशित हुई हैं उतनी साहित्य के किसी दूसरे अंग पर प्रकाशित नहीं हो सकीं।

इसका तात्पर्य यह है कि हमारे साहित्य का एकांगीय विकास हो रहा है और हमारे कृतिकारों में कवियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ रही है। साहित्य के सम्यक् विकास के लिए यह परिस्थिति अधिक श्लाघ्य नहीं कही जा सकती। जहाँ चिंतन-पक्ष का स्थान कल्पना-पक्ष ग्रहण कर लेता है वहाँ साहित्य राष्ट्र का मेरुदण्ड नहीं हो सकता। राष्ट्रीय जीवन के संघर्षों के लिए कविता का प्राबल्य अधिक हितकर नहीं। यद्यपि हमें कविता की ऐसे समय में भी थोड़ी बहुत आवश्यकता प्रतीत होती है। कवियों की इस बाढ़ का कारण अधिकतर कवि-सम्मेलन ही हैं और मेरे सहयोगी अनेक कवियों को इस बात का अनुभव होगा। केवल साहित्य के ही नहीं किन्तु समाज और परिवार के छोटे मोटे उत्सवों में भी कवि-सम्मेलनों के आयोजन और उनके लिए आग्रहपूर्ण निमन्त्रण उन्हें मिलते रहते हैं। कवि-सम्मेलन आज मनोरंजन और विनोद के ऐसे साधन हो गये हैं कि साधारण जनता के मन में भी उनके लिए श्रद्धा का भाव नहीं रह गया है। यही कारण है कि हमारे प्रतिष्ठित कवि कवि-सम्मेलनों में जाना अपमान जनक समझते हैं। और उनका यह व्यवहार अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन कवि-सम्मेलनों में ऐसे ही व्यक्तियों का जमाव होता है जो कविता के नाम से परिहास, विनोद और अश्लीलता की सीमा तक पहुँची बातें कह सकते हैं। इन कवि-सम्मेलनों का प्रभाव चाहे इतना भले ही हो कि साधारण जनता तक कविता की कुछ पंक्तियाँ पहुँच गई हों। किन्तु इतनी सस्ती भावुकता से किसी भी साहित्य का कल्याण नहीं हो सकता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि इसी प्रकार के कवि-सम्मेलन होते गए तो हिन्दी कविता की वह महान् जिम्मेदारी जिसके द्वारा वह राष्ट्रीय उद्बोधन का कार्य करने जा रही है, अत्यन्त हेय और घृणास्पद बन जायगी। हम ऐसे कवि-सम्मेलन का रूप देखना चाहते हैं जहाँ साहित्य की प्रवृत्तियों का स्वरूप सामने आ सके, जहाँ देश की परिस्थितियों के अनुरूप साहित्य का निर्माण हो सके, जहाँ जनता की रुचि का परिष्कार हो सके और प्रतिभाशाली कवियों की विश्वमान्य कृतियों का सृजन संभव हो सके। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ही इस दिशा में सचेष्ट हो सकेगा, इसी भावना से प्रेरित होकर मैं कुछ बातें आप बन्धुओं के सामने उपस्थित करना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह है कि यह अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन केवल आज की आयोजना न होकर वर्ष भर की हो और यह अपनी समिति के सहयोग से वर्षभर कार्य करे तथा कविता की गतिविधि पर दृष्टि रखकर उसका अनुशासन करे। वर्ष के अन्त में वर्ष भर में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संग्रह प्रकाशित कर वह हिन्दी संसार के सामने प्रस्तुत करे और नवीन कवियों का मार्ग-प्रदर्शन करे।

भाषण—३

दूसरी बात यह है कि यदि वह साधारण समारोहों पर कवि-सम्मेलन के आयोजन के रोकने की चेष्टा कर सके तो करे। जितना व्यय कवियों के बुलाने में किया जाता है, उतने में किसी होनहार कवि की रचना प्रकाशित हो सकती है अथवा कविता के सम्बन्ध में कोई मार्ग-दर्शक ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

तीसरी बात यह है कि यदि कवि-सम्मेलनों के स्थान पर ऐसा साहित्यिक समारोह हो सके जिसमें प्राचीन और आधुनिक कवियों पर प्रतिष्ठित विद्वानों के भाषण हों अथवा मान्य कवियों की रचना का पाठ हो तो जनता में काव्य के प्रति और अभिरुचि उत्पन्न करने का यह श्रेष्ठतर रूप होगा।

चौथी बात है साधनहीन कवियों की रचना का प्रकाशन अथवा उनकी व्यवस्था करने का पुनीत कार्य अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन को ही करना चाहिए। यदि वह स्वयं प्रकाशित न कर सके तो प्रतिष्ठित प्रकाशकों के समीप तक इन कृतियों को पहुँचा देना उचित होगा।

पाँचवीं बात यह है कि यदि संभव हो तो कवि-सम्मेलन अपना एक स्थायी कोष भी स्थापित करे और कविता पुस्तक-माला के रूप में वह प्राचीन और अर्वाचीन कवियों की कविताओं को प्रकाशित करे।

मैंने इन अभावों का अनुभव किया है, इसलिए मैं इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति और कवि-सम्मेलन की संयोजक समिति के सामने इन बातों को विनम्रता-पूर्वक किन्तु निश्चयात्मकता के साथ उपस्थित करता हूँ। हमारे साहित्य का महान् हित होगा, यदि इन बातों के अनुरूप कार्य किया जा सके।

इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं कहना है। मैं कविता लिखने और समझने के नाते यह कर्त्तव्य समझता हूँ कि यह प्रार्थना आप तक पहुँचा दूँ। आप लोगों ने मुझे इन बातों के कहने का अवकाश देकर मुझ पर जो कृपा की है उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और इस अवसर पर उपस्थित होने वाले सभी कवि-बन्धुओं को इस मंच पर काव्य-पाठ का निमन्त्रण देता हूँ। मुझे विश्वास है कि जयपुर में होने वाले इस पुनीत साहित्यिक समारोह के अवसर और स्थल के अनुरूप आप सुरुचिपूर्ण ही काव्य-पाठ करेंगे। श्रोताओं से भी प्रार्थना है कि किसी कवि का अपमान या उपहास न करते हुए उनकी रचना आदर और श्रद्धा के साथ सुनने की कृपा करेंगे।

कवियों की जन्मभूमि राजस्थान की वन्दना कर मैं कवि-सम्मेलन का कार्यक्रम आरम्भ करता हूँ।

आँसुओं की विजय

राजनीति के क्षेत्र में अमर रानी लक्ष्मीबाई ने असमय में ही अपने प्राण त्याग दिए थे। आज साहित्य के क्षेत्र में अमर सुभद्राकुमारी ने जीवन के मध्य में ही संसार छोड़ दिया! जैसे सुभद्राकुमारी में रानी लक्ष्मीबाई के ही प्राण थे जो अपने प्राचीन संस्कारों में राजनीति और राष्ट्रीयता की भावना नहीं भुला सके। सुभद्राकुमारी का शरीर पाने पर वे प्राण पहले राष्ट्रीयता में स्पंदित हुए, बाद में उसी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत साहित्य में। लेकिन मैं रानी लक्ष्मीबाई से पूछना चाहता हूँ: 'देवि, तुम क्रान्ति-कारिणी हो। अपनी महत्वाकांक्षा के आदर्श की पूर्ति के लिए तुम अनेक बार भारत-भूमि पर अवतरित होओगी किन्तु जीवन के मध्य ही में संसार छोड़ देना तुम्हें क्यों अच्छा लगता है? तुम अमरत्व का अनुसरण नहीं करतीं, अमरत्व तुम्हारा अनुसरण करता है। किन्तु तुम अमरत्व को कंकाल की भाँति क्यों छोड़ देती हो? कुछ अधिक जीवित रह कर उसमें अपनी स्फूर्तियों का रंग क्यों नहीं भरतीं?

अब सुभद्राकुमारी संसार में नहीं है। क्या केवल वर्षों के ४३ सोपानों में ही उन्हें 'मातृ-मन्दिर' का द्वार मिल गया? यह जीवन-पथ बहुत छोटा था उनकी सहज संभावनाओं को देखते हुए। कोई उन्हें रोक नहीं सका जाते हुए। कौन जानता था कि उनकी उस छोटी सी यात्रा में 'महा-यात्रा' उन्हें पुकार रही है। क्षत्राणी किसी की ललकार सहन नहीं करती। उसने उस 'महा-यात्रा' के आवाहन को भी स्वीकार कर लिया।

आज साहित्य के सहस्रों कंठ सुभद्रा के प्रस्थान पर कुंठित हो गए हैं। जो साहित्य उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ पाकर गौरवान्वित हुआ था, वही आज उनके चले जाने पर स्तंभित है। देखें वह अपनी सुभद्रा की स्मृति किस रूप में सुरक्षित रखता है।

वे मुझे अपना आत्मीय समझती थीं। उत्साह से अनेक बार उन्होंने मुझसे मेरी रचनाएँ सुनी थीं और अपनी रचनाएँ मुझे सुनाई थीं। 'मुकुल' पर दो शब्द लिखते समय मेरे मन में आशा और उमंग थी, आज ये पंक्तियाँ लिखते समय आँसू मेरी लेखनी का मार्ग रोक रहे हैं।

आज आँसुओं ही की विजय हो, किन्तु मेरी कामना है कि मेरे इन आँसुओं की आर्द्रता से उनका प्रस्थान-पथ अधिक कोमल हो जाय—उन्हें कोई कष्ट न हो।